हिमाचल प्रदेश के लोक नृत्य

प्रो० हरिराम जसटा

हिमाचल प्रदेश के लोक-नृत्य

समर्पण

बहिन चम्मी को
जो अब नहीं रही

□ □ □

उसने कब यह सोचा कि एक कलिका के संग,
कितने तुतले अरमान बँधे हैं मधुवन के ?
कब उसे ज्ञात यह हुआ कि एक साँस के संग,
कितने सपने जीते-मरते हैं जीवन के।

□ □ □

आमुख

जीवन की परिभाषा कुछ भी हो, पर यह एक अनुभूति तो है ही। अनुभव कैसे भी हों, वे समय-सरिता में अपने विविध रंगों से भरपूर घटनाओं के रूप में बहते हैं। अनुभव सीधे-सादे भी हो सकते हैं जैसे बच्चों और ग्रामीण लोगों के, ये जटिल भी हो सकते हैं जैसे वैज्ञानिकों, कलाकारों और नेताओं के। ये बच्चों के निरुद्देश्य हाथ घुमाने और भटकती दृष्टि से लेकर महात्माओं के नियन्त्रित जीवन और नर्तक की विवेकपूर्ण हिलन-जुलन तक हो सकते हैं। यही नहीं ये अनुभव तो किसी वस्तु को शरीर रूप में अवलोकित करने और उसके परिचालन से लेकर आविष्कार और अमूर्त एवं जटिल भावों को सुव्यवस्थित रूप देने तक हो सकते हैं। जीवन के बारे में यह भी कहा जा सकता है कि यह सजीव शरीर और आत्मा का उत्तेजन और प्रतिक्रिया है। उन पंचभूतों के आश्चर्य और हर्ष का शरीर द्वारा कार्यरत करने, उत्सुक और बेचैन हाथों को किसी प्रेरणा के वशीभूत घुमाने, जिह्वा का अभिव्यक्ति के लिए तड़पना और मन का विचारों से प्रेरित होकर विह्वल होना ऐसे बहुरूपी अनुभवों के कुछ भागों या किसी रूप का स्मरण करना या लिपिबद्ध कर लेना भी कला का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और उसे सुरक्षित रखने का एक सद्प्रयास है।

जिस हद तक जीवन मूर्त है, अभिव्यक्ति है वह एक कला है, और उसी सीमा तक सभ्यता की अव्यवस्थित स्थापना में सामंजस्य स्थापित करना कलाकृति है।

इन्हीं भावों से ओत-प्रोत होकर मैंने हिमाचल प्रदेश के परम्परागत जातीय लोकनृत्यों के बाह्य रूप के अव्यवस्थित-क्रम में सामंजस्य खोजने का प्रयास किया है। कलारूपी अथाह सागर से मैं कुछ सीपियाँ सँजो पाया हूँ, जबकि वह आसीम सागर ठाठें मारता हुआ गतिमान है। मैं कहाँ तक इस उद्देश्य में सफल हुआ हूँ, यह निर्णय मैं प्रबुद्ध पाठकों पर छोड़ता हूँ।

बाल्यकाल से लेकर अब तक पहाड़ी लोक नृत्यकला के जितने रूप अन्तस्तल पर अंकित हुए, हिमाचल के गाँव-गाँव में घूम-घूमकर, इन मनोहर लोकनृत्यों की जो रंगीन छवि दृष्टि-पथ में समाकर हृदय में उतर गई, उसी थाती को तीव्रीकरण के फलस्वरूप स्पष्टीकरण और प्रस्तुतीकरण इस कृति द्वारा

सहृदय पाठकों के सामने रख रहा हूँ। आशा है, इसका आशातीत स्वागत होगा।

यहाँ हिमाचल प्रदेश के जिन लोक-नृत्यों का वर्णन किया गया है, उनमें यह पूर्वानुभव भी निहित है कि इन सबका एक सुव्यवस्थित रूप कैसा होगा या होना चाहिए।

हिमाचल प्रदेश के लोक-नृत्यों की मूल प्रेरणा-स्रोत यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य के जादुई रूपों, ऊँची-ऊँची पर्वत-श्रेणियों, हरी-भरी वादियों, नित्य संगीत गाते हुए बहते नदी, नाले और झरने, गाँव-गाँव में नित्य पूजे जाने वाले देवी-देवता और लहलाहते खेतों में मिलेगा। जीवन के प्रत्येक चिह्न में ग्रामीण लोग ईश्वरीय विधान का रहस्य पाते हैं और इस सत्य को ऐसे भक्तिपूर्ण प्रतीकों द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं, जो प्रायः प्रत्येक देवी-देवताओं को जिन्हें सृष्टि-रचना और उसकी दैवी शक्ति का रूप समझा जाता है—सर्मपित ऋतुओं के अनुरूप घोषित किया जाता है। इन सब लोक-नृत्यों के मूल में स्वाभाविकता रहती है और नर्तक इस स्वाभाविकता को स्वतन्त्र रूप में एक निश्चित रूप में प्रकट कर सकते हैं। इन लोक-नृत्यों द्वारा दूरस्थ गाँवों में शान्ति और सामूहिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिस सहयोग और एकता की भावना की आवश्यकता होती है, ये सब इनमें उपलब्ध होता रहा है। सारे लोकवाद्यों का रख-रखाव, और उपयोग, लोकवादकों के जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध और समय पर एकत्र होकर नृत्य करना ये सभी काम स्वचालित यंत्र की तरह चलते रहे हैं। उसी भावना को इन लोक-नृत्य के मूल आदर्शों को सुरक्षित रखकर जीवित रखा जा सकता है यह मेरा विचार है।

हिमाचल प्रदेश के लोक-जीवन सम्बन्धी अपनी पुस्तक 'हिमाचल गौरव' जब मैं भूतपूर्व मुख्यमन्त्री डा० वाई० एस० परमार और तत्कालीन एकादमी अध्यक्ष श्रीयुत लालचन्द प्रार्थी को भेंट कर रहा था, तो सबसे पहली बात उन्होंने हिन्दी की पुस्तकों के मुद्रण, साज-सज्जा के साथ-साथ यह भी उठाई, कि "हिमाचल गौरव" में प्रस्तुत किए गये प्रत्येक विषय पर एक स्वतन्त्र प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना होनी चाहिए। उसी स्वप्न को साकार करने का मेरा यह प्रयास रसिक पाठकों के सम्मुख है। मुझे आशा है कि हिमाचल प्रदेश के दुर्गम एवं दूरस्थ ग्रामवासियों ने जिस श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, साधना और आदर से आज तक अपने लोक-नृत्यों को जीवित और सुरक्षित रखा, वही भावनाएँ विज्ञान और तकनीकी की तीव्र आँधी से इन्हें धूल-धूसरित होने से बचाने के लिए आज भी विद्यमान हैं। उन्हें सुरक्षित रखने का विनम्र आयोजन प्रस्तुत रचना है। परन्तु जैसे तैराकी की पुस्तक पढ़कर कोई तैराक नहीं बन जाता, वैसे ही, मैं भी भली-भाँति जानता हूँ कि हिमाचल के लोक-नृत्यों का रसास्वादन या प्रशिक्षण

केवल इस पुस्तक को पढ़ लेने से प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिए तो परम्परा-गत लोक-वाद्यों वेशभूषा, प्राकृतिक सौन्दर्य, लोक-गीत, श्रद्धा, श्रम-साधना से अभिभूत होकर प्रदर्शित इन लोक-नृत्यों को आज और भविष्य में भी जीवित रखने की उतनी आवश्यकता है जितनी पहले भी थी, ताकि भारतीय कला की अमर आत्मा लोक-नृत्य अपने रस, रंग और वैभव से जनमानस की सुन्दरतम अनुभूतियों का रसास्वादन भविष्य की पीढ़ियों को भी दे सकें और इस प्रकार भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग होने के नाते सतत् स्फूर्ति और आनन्द देते रहें।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रयोजन पाठकों को पहाड़ी लोक.नृत्य सिखाना या इन लोक-नृत्यों पर भरत मुनि की तरह एक आधुनिक नृत्यशास्त्र की रचना करना नहीं, अपितु इन लोक-नृत्यों के सम्बन्ध में फैली अनेक भ्रांतियों को दूर करना और इन्हें वास्तविक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना है। इसलिए मेरे प्रयास को अपने विषय की भूमिका एवं परिचयात्मक विवरण ही समझा जाये, क्योंकि लोक-नृत्यों पर शास्त्रीय नृत्यों की तरह कोई प्रामाणिक और विस्तृत ग्रन्थ लिखने का साहस व्यर्थ भी था।

इस पुस्तक के लिए कुछ चित्र श्रीयुत गोवर्धन सिंह, डा० वंशीराम शर्मा और रेखाचित्र आयुष्मान सुपुत्र नरेश जसटा के सौजन्य से प्राप्त हुए और इस ग्रन्थ की रचना के लिए अमूल्य समय दिया मेरी जीवन-सहचरी कलावती जसटा ने। मैं सबके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

कुमार भवन,
शिमला-६

—हरिराम जसटा

विषय-सूची

हिमाचल प्रदेश के लोक-नृत्य

लोक-नृत्य

यद्देवा अदः सलिले सुसरब्धाः अरिष्ठत ।
अत्रावो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरजायत ॥
—ऋ० १०।७२।६

कला की कोई परिभाषा स्पष्ट रूप से संभव नहीं। फिर भी कला की अनेक परिभाषायें की गई हैं। प्रत्येक परिभाषा द्वारा कला के किसी एक पक्ष पर सामान्य प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। अनेक परिभाषाओं से कला के व्यापक स्वरूप के दर्शन होते हैं, कला का स्वरूप एक नहीं अनेक है। वास्तव में कला अव्यवस्थित अनुभवों को सुव्यवस्थित रूप देने, एक श्रृंखला-क्रम बनाने सतत-विनाशी अबोधगम्य प्रवाह को स्थायित्व की मर्यादा और अर्थ देने का एक माध्यम है। जर्मन कवि गेटे के अनुसार कला आत्मा का सम्मोहन है और शिलर की मान्यता है कि इसके द्वारा मानव को सोया हुआ गौरव प्राप्त होता है। वेग्नर कहते हैं—"मानव में अपने अस्तित्व का जो हर्ष है, वही कला है या मानव के सामूहिक जीवन का उच्चतम आविर्भाव है।" ए० कलट्टेन ब्रोक का कथन है—"जब मानवता का सारा ज्ञान, निपुणता और आवेग इनसे भी श्रेष्ठ स्वीकृति में उंडेल दिया जाता है वही स्वीकृति कला है।" विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में मानव के पास भावनात्मक शक्ति का भंडार है जो सारा आत्म-रक्षा पर ही व्यस्त नहीं होता। कला इस अधिशेष पर ही निर्मित होती है। इस अधिशेष शक्ति का यदि सदुपयोग न किया जाय तो दुष्परिणाम हो सकते हैं।

व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कला के द्वारा कलाकार का सामूहिक रूप में कार्य भी मानव-जीवन के लिए उतना आवश्यक है, जितना हवा, पानी और रोटी कला मानव-जीवन का मूल रस है। जीवन के प्रकटीकरण और उसे अर्थ देने का रूप एक साधन है। यह केवल इन्द्रिय सुख वा धनी लोगों को सुख देने वाला विकास नहीं। इसका तो अधिक गहरा आधार और महान उद्देश्य है।

कला आत्मा की सच्ची पुकार है। कला संसार में प्रेम आनन्द और सौन्दर्य की सृष्टि करती है।

देश, काल और परिस्थिति अनुकूल समय-समय पर कला की परिभाषा, रूप तथा विषयवस्तु में परिवर्तन होता रहा है। परिवर्तन के महत्त्व को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

कला की जो सच्ची सृष्टि है उसमें आनन्द एवं सत्य के साथ सौन्दर्य का ऐसा समावेश होता है कि वह कल्याणरूप धारण कर लेती है, तो भी स्वयं कलाकार देश और काल की सीमा से बद्ध रहता है। इसीलिए कला की सच्ची सार्थकता तभी है जब लोक-कला होती है। यह लोक-कला जीवन से सम्बद्ध रहती है। वह एक विशिष्ट वर्ग की कला नहीं होती, वह साधारण जनता की कला हो जाती है।

हम अपने राष्ट्र की लोक-कला और शास्त्रीय-कला द्वारा संसार को अपने राष्ट्रीय जीवन की चेतना का संदेश पहुंचा सकते हैं। यही नहीं संगीत, नृत्य, चित्रकला व दूसरे मनोविनोद केवल सुख के ही नहीं आत्म-नियन्त्रण के भी उपकरण हैं। वह इन्द्रियों का असंख्य या अपरिष्कृत विषयोपभोग के बिना सुख पाने का अभ्यास कराते हैं। यह कह सकते हैं कि वस्तुत: सब ललित-कला संयम का ही साधन है सुख तो उनका अनुषंगिक फल है।

बिना कला के मानव-जीवन अधूरा है। मानव की भावनाओं का विकास कला द्वारा ही संभव है। एक कहावत है – यदि तुम्हारे पास दो रोटियां हैं एक बेचकर पुष्प मोल ले लो—तात्पर्य यह है कि अपने समीप सौन्दर्य भी उतना ही आवश्यक है जितना भोजन।

कला मानव-जीवन को शाश्वत प्रवाह में पकड़ने का प्रयत्न करती है। इसके द्वारा जीवन की अच्छाई को स्वीकृति मिलती है और स्वयं जीवन को नवस्फूर्ति। इसका आविर्भाव कलाकार के मूल अनुभवों से होता है, जो स्वयं के लिए, सहयोगियों के लिए नया अनुभव बनता है और फिर इसके स्वतन्त्र अस्तित्व से समस्त जातीय-चेतना समृद्ध होती है।

सौन्दर्य और आनन्द का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। सौन्दर्य सतत आनन्ददायक है। जहां आनन्द नहीं, वहां सौन्दर्य भी नहीं। एक कवि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा, नृत्यकार शरीर के अनेक अंगों की सिहरन द्वारा और एक सुसंकृत व्यक्ति शिष्टाचार एवं विनम्र व्यवहार द्वारा करता है। विभिन्न युगों, जातियों और देशों द्वारा, सौन्दर्य-पिपासा शब्द, रंग, पाषाण, शरीर, जीवन और चरित्र की क्षणिक सीमाओं द्वारा सीमित नहीं की जा सकी। प्रत्येक व्यक्ति इस उत्कंठा को नहीं मिटा पाता, क्योंकि 'लिज्ज़ते सहरानवर्दी दूरिये मंजिल में है'।

जब चर्म-सुख सौन्दर्य की जीवन-शक्ति उपलब्ध हो जाती है, तब दिव्य जीवन के द्वार खुल जाते हैं और फिर क्रूर काल भी उन्हें बन्द नहीं कर पाता।

शिष्ट कला और लोक कला

कला द्वारा हृदय की सलोनी रूप-रेखा की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम कब और किस रूप में हुई इसका शृंखलाबद्ध निश्चित ढंग से संतोषजनक उत्तर अभी तक संभव नहीं हो पाया। फिर भी कला के इस विश्लेषण का निष्कर्ष भारतीय संदर्भ में यह तो निकाला ही जा रहा है कि जो तत्त्व भारतीय समाज को, उसकी समस्याओं को पहचानने में समर्थ है, वह सुख और सौन्दर्य की अनुभूति भारतीय कला में निहित है। इसलिए कला यदि कला के विकासशील जीवन अध्ययन के दो रूप मान लिए जायें तो उसके वास्तविक रूप की पहचान कर पायेंगे। इस विषय में श्री राम इकबालसिंह के विचार उल्लेखनीय हैं, "प्राचीन संस्कृति की रेशम डोर में जकड़ी हुई लोक-कला मानव पीढ़ियों के सुख-दुख की गाथा की जिसमें जीवन की हरी अमर बेल चारों ओर लिपटी है, ओजमयी है। लोक-कला सनातन रीति नीतियों के अन्तर्मुख नियम से समन्वित और धरती की रौंदी हुई मिट्टी की महिमा से मंडित संसार की एक अनमोल निधि है। शिष्ट-कला के गगनचुम्बी मन्दिर के निर्माण में लोक कला को काल की उदर दरी के नीचे नींव की प्रथम शिला के रूप में गड़े रहने का श्रेय प्राप्त है। ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार आज से करीब सवा लाख वर्ष पहले लोककला ने गर्भावस्था से बाहर निकलकर दुनिया को प्रथम बार देखा। उस युग में मनुष्य ने प्रकृति की परस्पर विरोधी और लौह-शलाका की मजबूत शक्तियों के साथ संघर्ष करते हुए एक सीमित पैमाने पर ऐसे प्राण सहारा कला-प्रतीकों की रचना की जो जीवन की दिशा में उनके अस्तित्व कायम रखने के लिए एक महती शक्ति सिद्ध हो—जो शिष्ट कला मानव-सभ्यता और संस्कृति के रूप में सज-संवरकर आज विकसित रूप में हमारे सम्मुख है, लोक-कला निःसन्देह उसकी नींव की, पहली शिला है। लोक-कला ने अभी भी कोई बंधन स्वीकार नहीं किया। लोक-कला ग्रामीण जनता की सहज अभिव्यक्ति का ही एक स्वरूप है। जहां वह समाज के अतीत अनुभव संजोकर रखती है, वहां वर्तमान के भी प्राणों का उसमें स्पंदन रहता है।"

लोक-कला की प्रत्यक्ष, सरल और निष्ठामय अभिव्यक्ति आडम्बर-विहीन और अकृत्रिम होती है। सीधे-सादे व्यक्तियों द्वारा सीधी-सादी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये विरचित लोक-कला की कृतियों की विषयवस्तु में रूप-विन्यास और प्रदर्शन की बजाय क्रियात्मकता को ही प्रधानता दी गई है, किन्तु वे मानव-मन की गहराइयों में बैठे सौन्दर्य-बोध की भी तुष्टि करती हैं। इन कला अभिनयों की कल्पना विशुद्ध, मौलिक और निर्भीकतापूर्ण है। उनमें एक ऐसा अनोखा आकर्षण है, जिसका ललित-कला की औपचारिकता

कृतियों में पूर्णतया अभाव होता है।

नृत्य का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है जितना मनुष्य जाति का। वास्तव में नृत्य लोक-जीवन से ही विकसित हुआ। लोकनृत्य कला का एक अभिन्न अंग है। नृत्य मूक कविता है। कविता की तरह नृत्य भी हृदय को आनन्दित करता है। जब मां प्यार से अपने नन्हे-मुन्ने को हँसाने के लिए गुदगुदाती है, वह हँस पड़ता है। कभी मां को हँसता देखकर, वह भी हँस पड़ता है। जब वह पूछ बैठती है, "चुप क्यों हो?" वह झूमकर नर्तन करने लगता है, तब वह समझ जाती है कि वह प्रसन्न है। लोक-नृत्य की पृष्ठभूमि में भी वही भावना रहती है।

भक्त, इष्ट देवता की आराधना करने के लिये पूजा का पात्र या मृदंग हाथ में ले, आत्म-विभोर हो झूमने लगते हैं। सारे वातावरण में भक्ति की एक लहर-सी दौड़ पड़ती है। यही सत्य लोक-नृत्य की प्रेरणा है।

जैसे कवि अपनी कविता द्वारा, मूर्तिकार मूर्ति द्वारा, चित्रकार चित्र द्वारा सुन्दर अभिव्यक्ति करते हैं, वैसे ही कुशल लोकनर्तक अपने शरीर के विभिन्न अंगों को थिरकन देकर अन्तस्तल की भावना को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। इसी प्रबल भावना ने मानव को सौन्दर्य-रचना की प्रेरणा दी तथा मिल-जुलकर सुख-दुख की अभिव्यक्ति देने के माध्यम की खोज की। मानव द्वारा किये गये सामूहिक प्रयास से कला का उद्‌भव हुआ है। लोक-कला धरती से अंकुरित हुई कला है, मानव की मूल प्रवृत्तियों का स्मरण दिलाती है। लोक-कला में लोक-नृत्य का अपना सर्वप्रथम स्थान है। सरलता, संवेदना, सहकारिता, स्फूर्ति, रंग, वैभव तथा शक्ति के इस संगम में कला सम्पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होती है।

कर्टसाश ने ठीक ही कहा है—"नृत्य कला की जननी है। संगीत एवं काव्य का अस्तित्व काल में है। चित्रकला और शिल्पकला शून्य में, परन्तु नृत्य का अस्तित्व दोनों में है। निर्माता और निर्मित वस्तु कलाकार और कार्य एक और वही है। यहां तक कि वह लोग जिनके पास निर्धनता के कारण अन्य कला के लिये कोई साधन नहीं, वे भी अपने शरीरों में लयात्मक गति का प्रतिमान पा सकते हैं। शून्य की रूपंकर भावना और दृश्य तथा कल्पित विश्व का विशद् चित्रण लोक-नृत्य में है। इसलिए लोक मानस पर जितनी अधिक छाप लोक-नृत्य और लोक-संगीत की है उतनी अन्य किसी की नहीं। सुगठित शरीर, आत्मा की कविता और संगीत तथा लोक-नृत्य मानव की संस्कृति के सर्वोत्तम उपकरण बन जाते हैं। पहाड़ी कृषक के कठोर चिन्ता और कठिन जीवन की शुष्कता से दूर ले जाने वाले ये लोक-नृत्य उसे प्रकृति के सुन्दर और सलौने झूले में झुलाते हैं।

प्राचीन काल से हमारे देश में कला एक पवित्र व्यवसाय समझा जाता रहा है। इसीलिए भारत की प्रत्येक कलाकृति पर अध्यात्मिकता की छाप रही है।

अतीत में भारत में कला सदैव जातीय अनुभव की अभिव्यक्ति, जातीय क्रिया-कलापों का प्रकाश और राष्ट्रीय, धार्मिक एवं भावनात्मक महत्वाकांक्षाओं की प्रतिमूर्ति रही है। यह अपेक्षा वर्तमान और भविष्य में भी की जा सकती है, परन्तु आवश्यकता है तो केवल आत्म-समर्पण की भावना, त्याग, तपस्या और सतत् साधना की। डा० श्याम परमार के अनुसार लोक-नृत्य और संगीत ऐसे माध्यम हैं, जो आदिवासी के निज मन को रंगीन बनाते हैं। कालान्तर में वास्तविक गुण और प्रकृति आकांक्षाएँ इन्हीं कलारूपों में समाद्रित होकर जातीय अभि-व्यक्ति में ढलती हैं।

कला और सौन्दर्य का चोली-दामन का साथ है। जैसे सागर में लहरें वायु का सम्पर्क पाकर लहराती हैं, वैसे ही प्रकृति से प्राप्त अनुभवों की सहायता से लोक-कला का विकास होता है। उदाहरण के लिये जब मनुष्य ने हवा में पेड़-पौधों को हिलते और इठलाते देखा तो वह भी आनन्द-विभोर होकर अपने शरीर को उसी प्रकार हिलाने-डुलाने लगा। हिलाने-डुलाने से इस क्रिया ने धीरे-धीरे नाच का रूप धारण कर लिया और समय बीतने पर हम उसे लोक-नृत्य कहने लगे। चाहे मनुष्य हो, चाहे पशु-पक्षी और चाहे लता-बेलियां, आनन्द के क्षणों में सभी के तन-मन थिरकने लगते हैं। जो नृत्य जन-मन को आनन्द दे, सारा लोक-मानस जिसे देखकर खिल उठे उसे लोक-नृत्य के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

जहां लोक-नृत्य का उद्देश्य अपनी हार्दिक प्रसन्नता को प्रकट करना है, वहां शास्त्रीय नृत्य-उद्देश्य का जनता के सामने प्रदर्शन करना भी है और लोगों को अपनी कला का परिचय देना भी। यही कारण है कि शास्त्रीय नृत्य में लोक-नृत्य की स्वाभाविकता और सरलता नहीं रहती। उसकी मुद्राओं और भाव-भंगिमाओं में बनावट और कृत्रिमता होती है। उनमें ताल और लय का बड़ा बंधन होता है। अतएव लोक-नृत्य लोक-कला का प्रतिबिम्ब होता है, जिसमें लोक-जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग कला, संस्कृति, रीति-रिवाज, समाजिक स्थिति आदि का सुन्दर परिचय मिलता है।

भारतीय लोक-नृत्य

बिना तु नृत्यशस्त्रेण चित्रसूत्रम् सुदुर्विदम्
—ऋषि मारकण्डेय

✓ लोक-नृत्य लोक-कला का ही विशिष्ट रूप है जिसमें ललित-कलाओं के अनेक रूप समाहित हैं। लोक-नृत्य एवं लोक-संगीत का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। इसी प्रकार लोक-नृत्य में लोक-नाट्य, संगीत-काव्य चित्रकारी, एवं वास्तुकला का भी सम्मिश्रण है। इसी में भारतीय संस्कृति की सुन्दरता-समन्वय, लय, ताल, स्वर, माधुर्य व सौन्दर्य-बोध-चेतना आज तक मिलती रही है और सबसे अधिक अनुनादी अभिव्यक्ति नृत्य-कला द्वारा हुई है।

भारतीय नृत्य

शारीरिक लय-प्रधान क्रियाओं के साथ आनन्द एवं सौन्दर्य की अभिव्यक्ति जिस सामूहिक रूप से होती है, उसे लोक-नृत्य कहते हैं । लोक-कला परम्परा का यह रूप लोक-नृत्य मानव जाति के आविर्भाव के साथ ही प्रत्येक देश में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहा है । नृत्य और संगीत विश्व की आदिम कलाएं हैं । इसमें किसका विकास पहले हुआ, यह लिखित इतिहास से परे है।

भारतीय लोक-नृत्य के इतिहास का भौतिक निरूपण संभव नहीं है । कारण स्पष्ट है कि यह केवल राष्ट्र या जनता का इतिहास नहीं, अपितु कुछ और भी है । परिणामस्वरूप लोक-नृत्य की भाषा कुछ स्पष्ट है, कुछ नहीं । समय और दूरी मनुष्य और प्रकृति की अभिव्यक्ति का माध्यम लोक-नृत्य है । यही क्रम अज्ञात काल से जारी है। पुरुष और प्रकृति में नैसर्गिक प्रवृत्ति पीढ़ियों से प्राप्त होती रही है। उसे भाषा और संगीत लय द्वारा श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति मिलती रही है। इस निहित विचार की बाह्य अभिव्यक्ति मानव इतिहास में है और नृत्य-कला का ताना-बाना भी । भारतीय धर्म एवं दर्शन न केवल कोरे तर्क, बौद्धिकता या कुछ नैतिक नियमों पर ही आधारित है, बल्कि इसका नृत्य के साथ गहरा सम्बन्ध है । विश्व के प्रथम नट शंकर हैं, जिनके विराट् नृत्य से विश्व की पंच-क्रियाओं का जन्म हुआ और सृष्टि के ताल, स्वर का स्वरूप निर्दिष्ट हुआ है, ऐसा लोगों का विश्वास है।

जब वह मुण्डमाली, नीलकण्ठ, अहिभूषण, त्रिलोचन, भस्माङ्गलिप्त देह, त्रिशूल, डमरू धारण कर, अपनी जटाओं को उन्मुक्त करके नृत्य करने लगते हैं, तब अकस्मात् ही यह कहना पड़ता है :—

महीपादाघाताद् व्रजति सहसा सशयपदं
पदंविष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णा ग्रहगणाः
मुहुर्धौ दोस्थ्यं यायादनिभृत ताडित तटा

चरणों का आघात लगने से लगता है, जैसे भूमण्डल कच्चे घड़े की भांति टूट रहा है । उठे हुए करों के घेरे में आकर तारामण्डल अस्त-व्यस्त होने लगता है, जटाएं उमड़ती हैं तो लगता है, जैसे भूमण्डल छिन्न-भिन्न हुआ जा रहा।

शिव के इस विराट्-नृत्य का पहाड़ी लोक-गीत में बड़ा ही विशद तथा सुन्दर वर्णन हुआ है । लोक-गीत लम्बा है, परन्तु यहां उसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूं ।

इशर नाचौ अंग-अंग मोड़े
सूलै नाचै लाधत्री नर्चाड़े
पैरं नाचौ पैताली रानी
डिन्डं नाचौ ढनेसरा रानी

जानू नाचौ जानका देवी
हीयें नाचौ हिडिम्बा देवी
गले नाचौ ऐ रुण्ड माला
साथी नाचौ ऐ सरपौ काला
कानें नाचौ मुंदरौ वाले
शिरें नाचौ ऐ जटा वाले
मुकटें नाचौ गांगौ रो पानी
बांवी नाचौ पार्वती रानी
हाथें नाचौ दग्धे तीरौ
दांवो नाचौ हनुमन्त बीरौ
ईशर नाचौ अकेलि ऐ अकेला
संगें नाचौं नौ लख चेला

भावार्थ—शिव अंग-अंग मोड़ कर नाच रहे हैं
धीरे नाचो, शिव धरती न तोड़ देना
पैरों में पैताल की रानी नाच रही है
घुटनों में ढनेसरा देवी नाच रही है
जानू में जानकी देवी नाच रही है
हृदय में हिडिम्बा देवी नाच रही है
गले में रुण्ड माला नाच रही है
साथ में काले सांप नाच रहे हैं
कानों में मुन्दर नाच रहे हैं
सिर पर काली जटायें नाच रही हैं
मुकुट पर गंगा मैया का पानी नाच रहा है।
बायें ओर देवी पार्वती नाच रही हैं
हाथ में दग्धे तीर नाच रहे हैं
दायें हनुमन्त वीर नाच रहे हैं
शिव अकेले ही नाच रहे हैं
साथ में नौ लाख चेले नाच रहे हैं
शिव आनन्द विभोर होकर नाच रहे हैं।

✓ इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय नृत्य का आदि रूप दिव्य ही रहा है वेदों में भी नृत्य का उल्लेख मिलता है। जैसे नृत्य मानो अमृत है (ऋ०५-३३-६) हिन्दू देवी-देवता शिव का नटराज रूप उनकी जीवन सहचरी पार्वती, श्रीकृष्ण और गोपियों का सम्बन्ध प्रायः इस कला के साथ जोड़ा जाता है। प्राचीन

काल से लेकर लोकनृत्य समाज के सभी वर्गों के जीवन का अंग रहा है। प्राचीन भारतीय इतिहास एवं साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि नृत्य राजघरानों में प्रिय रहा और राज-परिवारों की राजकुमारियां इसे सीखती थीं।

महाभारत के अनुसार राजा विराट की राजकुमारी उत्तरा ने ब्रहन्नला के रूप में अर्जुन से नृत्य-कला सीखी। दक्षिण भारत के अनेक प्रसिद्ध मन्दिरों के पुजारी इस कला में दक्ष थे। अन्य कलाओं की तरह नृत्य-कला भी प्राचीनकाल से लेकर अब तक पनपी और विकसित हुई। इसका उदाहरण भरत मुनि द्वारा रचित नाट्य-शास्त्र है, जिसके द्वारा न केवल नाट्य-कला बल्कि संगीत, कविता, वास्तुकला, नृत्यकला और सौन्दर्य-शास्त्र का भी प्रतिपादन किया गया है। अभिनय दर्पण और धनंजय का दशरूपक अनन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। समय-समय पर कला क्षेत्र में अनेक उतार-चढ़ाव आए और विदेशी आक्रमणों के साथ-साथ भारतीय नृत्य-कला दक्षिण में मन्दिर की देवदासियों तक सीमित हो गई और उत्तर भारत में कुछ व्यावसायिक वर्ग तक सीमित रह गई। राजदरबारों के समर्थन के अभाव में तथा सामाजिक रूढ़ियों के कारण यह कला निम्न वर्ग तक सीमित हो गई और आर्थिक कारणों से वे लोग चरित्रहीन जीवन व्यतीत करने लगे। उदाहरण के लिए हिमाचल प्रदेश में नृत्य-कला व्यावसायिक निम्न वर्ग लोक-वादक—तूरी, ढाकी, बाजगी तक सीमित हो गई। इस वर्ग की स्त्रियां देवी-देवता के ग्रामों में जाकर प्राय: चैत, बैसाख, श्रावण, संक्रांति और अन्य त्यौहारों और उत्सवों पर लोकनृत्यों का प्रदर्शन करती थीं और ग्रामीण लोग उनके साथ भद्दे मज़ाक भी कर बैठते थे। ऐसी परिस्थितियों में यह कला भारत के अन्य क्षेत्रों से भी गुजरी है।

परन्तु स्वतन्त्रता के उपरान्त लोक-जीवन की इस महत्त्वपूर्ण थाती को सुरक्षित रखने और पुनर्जागरण की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। गणतन्त्र दिवस पर दिल्ली में प्रत्येक क्षेत्र के लोक-नृत्य प्रस्तुत करने की प्रथा प्रशंसनीय है। इसी प्रकार प्रत्येक प्रदेश सरकार तथा कलाकारों ने कुछ संगठन स्थापित कर लोक-नृत्यों को प्रोत्साहन देने का सद्प्रयत्न किया है। इस संदर्भ में श्री जवाहर लाल नेहरू के विचार उल्लेखनीय हैं: "यदि मुझसे कोई पूछे कि भारत की प्राचीन संस्कृति और उसकी जनता के स्फूर्तिपूर्ण जीवन और कला-प्रेम का सबसे सुन्दर चित्रण कहां होता है तो मैं कहूंगा कि हमारे लोक-नृत्यों में। मैं चाहता हूं कि भारत की यह प्राचीन थाती अपने प्राचीन स्वच्छ रूप में न केवल जीवित ही रहे, वरन् निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर हो, जिससे वह साधारण जनता का स्वस्थ मनोरंजन करती हुई उनमें नई उमंग, नया जोश तथा नई चेतना भर सके।" समय के अनुसार भारतीय लोक-नृत्य में बहुत कम परिवर्तन हुए हैं। उनकी आन्तरिक गठन वही रही है।

ऐतिहासिक झलक

मैं देवताओं के सेकड़ों युगों में तुम्हें हिमाचल की गौरव-गाथा नहीं बखान सकता। जैसे ओसकणों को प्रातः सूर्य सुखा देता है, वैसे ही हिमाचल को देखकर मानव के पाप धुल जाते हैं।

—स्कंद पुराण

पूर्व-आर्यकाल एवं आदिकाल

हिमाचल प्रदेश की लोक-परम्परा और इतिहास उतना ही पुराना है जितनी पुरानी मानव सभ्यता। हिमाचल प्रदेश निःसन्देह आदि मानव का स्थान रहा है। इस प्रदेश का इतिहास असंख्य जातियों, उपजातियों के उदय, विलय, संघर्ष, शांति, सिकुड़न, विस्तार एवं राज्यों के उत्थान-पतन से ओत-प्रोत रहा है। इन पहाड़ों पर बसने वाले लोग भारत के मैदानी भागों की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में उतना ही योगदान देते रहे हैं जितना अन्य क्षेत्र के लोगों ने दिया। ऐसे उतार-चढ़ावों और विविधि जाति तत्त्वों के समावेश का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ, कि प्रत्येक जाति की धार्मिक भावनाओं एवं परम्पराओं का कोई-न-कोई अंश इस पहाड़ी क्षेत्र के लोक-जीवन में अवश्य मिल जाता है।

इस पर्वतीय क्षेत्र में बसने वाली अनेक जातियों में किन्नर, किरात, यक्ष, गंधर्व, नाग, कोल, खश एवं अन्य अभिजातियों के अवशेष अब भी विद्यमान हैं। इसलिए हिमाचल प्रदेश के प्रारंभिक युग को जनजातियों का युग कहा जाये तो ठीक होगा। ये जनजातीय परम्पराएँ किसी-न-किसी रूप में आज भी विद्यमान हैं। ऋग्वेद में जिन नदियों का वर्णन है, उनमें यमुना, सतलुज, व्यास, चिनाब, रावी इस प्रदेश से होकर अब भी बहती हैं।

पौराणिक काल से जुड़ी हुई यहां की अनेक परंपरायें एवं स्थान आज भी जीवित हैं। मनु, राजा शाम्बर दिवोदास का युद्ध, जमदग्नि, परशुराम, मां रेणुका, वशिष्ठ, विदुर और तांदी, भीम और हिडम्बा की मिलनस्थली, मनाली, महाभारत युद्ध में भाग लेने वाले त्रिगर्त राजा सुशर्मचन्द्र कटोच, कमरू नाग, पांडवों से जुड़ा

शिमला-जनपद के हाटेश्वरी और हाटकोटी, हनोल में महासू, मंडी का पांगणा, कुल्लू के निरमंड, कांगड़ा दुर्ग में भीम से जुड़ा भीमकोट इत्यादि अनेक पुण्यस्थल आज भी विद्यमान हैं, जो वर्तमान के मुंह में झांककर अपनी प्राचीनता का परिचय दे रहे हैं। पौराणिक काल से हिमाचल प्रदेश के सैकड़ों देवी-देवताओं की पूजा एवं लोकनृत्य परंपरायें भी जुड़ी हैं।

भारत के अन्य राज्यों की तरह हिमाचल प्रदेश के त्रिगर्त (कांगड़ा), कुल्लूत (कुल्लू), कलिन्द (सिरमौर), युगन्धर (बिलासपुर नालागढ़), बुशहर गव्दिका (चम्बा) एवं आदुम्बर (पठानकोट) सबसे पुराने सुव्यवस्थित राज्यों में से थे। वर्तमान हिमाचल प्रदेश का शेष क्षेत्र, सम्भवतः इन्हीं राज्यों का भाग था। समय पाकर धीरे-धीरे ये राज्य छोटे-छोटे राज्यों में छिन्न-भिन्न होकर राणाओं, ठाकुरों और मावियों में बंट गये। बाहर से आकर अनेक शक्तिशाली राजाओं ने इन छोटे-छोटे राणाओं को परास्त कर अपने राज्यों में मिला लिया, जैसे सिरमौर, क्योंथल, मंडी, कांगड़ा, बिलासपुर के प्राचीन इतिहास से विदित होता है।

मैं जे० हचिसन एवं वोगल के इस मत से सहमत हूं कि इन पहाड़ी राज्यों का इतिहास लगभग एक अनवरत संघर्ष का इतिहास है। जब कोई शक्तिशाली शासक सत्ता प्राप्त करता था तो बड़े राज्य अपने छोटे पड़ोसी राज्यों को अपने में मिला लेते थे। परन्तु यह छोटे राज्य उपयुक्त समय मिलने पर अपने को आजाद घोषित कर देते थे।

इन प्रसिद्ध राज्यों में चम्बा की नींव ५५० ई० के लगभग, कहलूर राज्य ६९७ ई० में, मंडी और सुकेत की स्थापना ७६५ ई० में और सिरमौर की ११३९ ई० में लिखित इतिहास में भी उपलब्ध है। इन पहाड़ी राजाओं ने लोक-जीवन को समृद्ध करने के लिए अनेक मंदिर बनाये तथा असंख्य मेले एवं त्यौहारों की परंपराओं की नींव भी डाली। दीर्घकाल तक इन पहाड़ी राज्यों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुए। लेकिन बाहरी आक्रमणों के फलस्वरूप आन्तरिक जीवन में परिवर्तन आना स्वाभाविक था।

गुप्तकाल और हर्षवर्धन की मृत्यु तक सारे पहाड़ी क्षेत्र में नया जीवन अंगड़ाइयां लेने लगा था। १००१ ई० से महमूद गजनबी के भारत पर आक्रमण से इन पहाड़ी राज्यों में भी उथल-पुथल शुरू हुई। १००९ ई० में उसने कांगड़ा के प्रसिद्ध दुर्ग और मंदिर पर आक्रमण किया। इसी दौरान में अनेक राजपूत सामन्तों ने हिमाचल प्रदेश के अनेक क्षेत्रों पर कब्जा कर अनेक राज्य स्थापित कर लिए। इनमें क्योंथल, बघाट, कुठाड़, कुनिहार, भज्जी, धामी, महलोग, कोटी, मांगल, बेजा, भरोली, बाघल, जुब्बल, सारी, रावीगढ़, बलसन, रतेश, धूंड, मधान, थयोग, कुमारसैन, करागंड, खनेठी, कोटखाई, कोटगढ़, दरकोटी, देलठ,

थरोच, ढाडी, शांगरी, डोडरा क्वार, रामपुर बुशहर, गुलेर, नूरपुर, जसवान, दातारपुर, डाढा और नालागढ़, मंडी, सुकेत, लाहौल स्पिति के नाम उल्लेखनीय हैं। जहां अनेक पहाड़ी शक्तिशाली सामन्त आपसी फूट से परस्पर सत्ता का विस्तार करने पर तुले रहते थे, वहां अनेक मंदिरों, मूर्तिकला, वास्तुकला एवं अन्य कलाओं का प्रारंभिक काल भी यही युग था।

मुस्लिम आक्रमण और मुगल साम्राज्य की स्थापना के साथ इस पहाड़ी क्षेत्र में नये युग का सूत्रपात हुआ। मुगल साम्राज्य का राजनैतिक एवं सामाजिक प्रभाव इस क्षेत्र के लोक-जीवन पर भी पड़ा। सिरमौर, शिमला जनपद के देव शिरगुल और देव डूम का संघर्ष लोकगाथाओं में मुगलों से जोड़ा जाता है। इसी तरह कुल्लू, कांगड़ा, सिरमौर और चम्बा के राजा मुगलों से कभी जूझते रहे, कभी उनकी अधीनता स्वीकार कर ली।

इसके बाद अंग्रेज़ों के आगमन के बाद सिख सेना और गौरखाओं के साथ पहाड़ी राजाओं की आपसी फूट के कारण अनेक युद्ध हुए। युद्धों की यह आंख-मिचौनी तब तक चलती रही जब तक अंग्रेज़ साम्राज्य ने पूरी तरह इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित नहीं कर लिया। हिमाचल प्रदेश के प्रसिद्ध राजाओं में चम्बा के राजा साहिल वर्मन, मेरूवर्मन, मंडी के वीरसेन और सिद्धसेन, सुकेत के मदन-सेन, रामपुर बुशहर के राजा केहरीसिंह, सिरमौर के राजा कर्मप्रकाश एवं कांगड़ा के राजा संसारचन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके राज्यकाल में कला एवं संस्कृति का काफ़ी विकास हुआ।

ह्यूनसांग के भारत सम्बन्धित वृत्तान्त में भी हिमाचल के कांगड़ा, कुल्लू, और लाहौल स्पिति के राज्यों का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार महाराज हर्षवर्धन ने कुल्लू और कांगड़ा को अपने राज्य में मिलाया।

हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद पारकंद के कीर कबीले ने राजा लक्ष्मीवर्मन के राज्य पर आक्रमण किया। इसी तरह लाहौल स्पिति पर तिब्बत की सेनाओं ने आक्रमण किया। इन आक्रमणों का प्रभाव लूट और तबाही तक ही सीमित रहा।

हिमाचल के इन पहाड़ी राजाओं ने प्रशिक्षित सेनाएं रखीं। युद्ध में राजा ही सेना का नेतृत्व करता था। राजा की मृत्यु पर ही सेना की पराजय समझी जाती थी। ई० ५०० से १००० ई० तक का समय हिमाचल की कला और संस्कृति के उत्कर्ष का काल था। शासक और प्रजा की धर्म पर गहरी आस्था थी। इस काल में हिमाचल के विभिन्न भागों में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। चम्बा के राजा मेरूवर्मन और साहिलवर्मन के राज्यकाल में सुन्दर मन्दिरों का निर्माण हुआ। इसी काल में किन्नौर और लाहौल स्पिति क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। ई० १००० के बाद मुसलमानों, मुगलों, अंग्रेज़ों, फ्रांसीसियों और पुर्तगालियों ने भारत के अनेक भागों में अपनी सत्ता का विस्तार करने के अनेक

प्रयत्न किये। देहली के सुलतानों का सतलुज के पहाड़ी पश्चिमी राज्यों पर आधिपत्य रहा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सुलतानों और मुगलों के अनेक सम्बन्धियों ने विद्रोह में असफलता के बाद हिमाचल प्रदेश के पहाड़ी राजाओं की शरण ली। सरदार मुहम्मद ने जिसने रजिया सुलताना के विरुद्ध विद्रोह किया था, सिरमौर के महाराजा की शरण ली। इसी तरह सरदार कुटलग खां जिसने मुहम्मदशाह प्रथम के विरुद्ध विद्रोह किया था, सिरमौर राज्य में भागकर जान बचाई। १३६५ ई० में फिरोजशाह तुगलक ने नगरकोट (कांगड़ा) पर आक्रमण किया। इस आक्रमण के दौरान उसने कांगड़ा और ज्वालामुखी के मन्दिरों को लूटा और ३०० के लगभग संस्कृत की पुस्तकें ले गया, जिन्हें बाद में उसने फारसी में अनुवादित करवाया।

१३९८-९९ में तैमूर ने सिरमौर राज्य को लूटा और कांगड़ा पर आक्रमण की तैयारी करने लगा, परन्तु कांगड़ा के राजा की शक्तिशाली सेना के डर से उसने आक्रमण नहीं किया।

मुगलों के साथ इन पहाड़ी राजाओं के सम्बन्ध अकबर के राज्यकाल में हुए। अकबर इन पहाड़ी राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाना चाहता था। इसलिए उसने टोडरमल को कांगड़ा भेजा। फलस्वरूप तत्कालीन कांगड़ा के महाराजा धर्मचन्द ने अकबर का आधिपत्य स्वीकार किया। १६२० ई० में जहांगीर ने कांगड़ा को अपने अधीन किया।

१७वीं शताब्दी में बुशहर राज्य के प्रसिद्ध राजा केहरीसिंह ने कंगराला, सारी, कोटगढ़, देलठ और कुमाहसैन पर अपना आधिपत्य जमाया। उसने मंडी, सुकेत, सिरमौर और गढ़वाल की ओर भी कदम बढ़ाए। १६८१-८३ में किन्नौर का ऊपरी भाग तिब्बत-लद्दाख युद्ध में उसने प्राप्त किया।

मुसलमानों के राज्यकाल में सुरक्षा की भावना से अनेक दुर्गों का निर्माण हुआ। जिनमें कमलाह (मंडी), मदनकोट (कुल्लू), चवाड़ी, (सुकेत), हमीरपुर त्यूरंसरयू (बिलासपुर), रामशहर (नालागढ़) के दुर्गों का निर्माण हुआ।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। हिमाचल प्रदेश के पहाड़ी राजाओं में कांगड़ा के राजा संसारचन्द्र ने एक कुशल योद्धा और शासक के रूप में ख्याति प्राप्त की। १७७५ ई० में सिंहासनारूढ़ होने के बाद मुगलों और सिक्खों के संघर्ष के फलस्वरूप कांगड़ा के दुर्ग पर १७८६ में उसका अधिकार हो गया। इसके साथ-साथ उसने मंडी, सुकेत, कहलूर, और चम्बा पर अपना आधिपत्व जमाया। राजा संसारचन्द्र की बढ़ती शक्ति से घबराकर अनेक पहाड़ी राजाओं ने कांगड़ा के विरुद्ध युद्ध करने के लिए गोरखों की सहायता प्राप्त की। फलतः गोरखों ने कांगड़ा पर आक्रमण किया और संसारचन्द्र ने जो राज्य जीते थे वे पुनः स्वतन्त्र हो गये। तीन वर्ष तक गोरखों ने कांगड़ा

में तबाही मचाई। मजबूर होकर राजा संसारचन्द्र को महाराजा रणजीत सिंह की सहायता के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। महाराजा रणजीत सिंह ने इस शर्त पर सहायता दी कि वह सिक्खों को सहायता के बदले कांगड़ा दुर्ग और ६६ गाँव देगा। महाराजा संसारचन्द्र ने गोरखों से छुटकारा मिलने पर अपना वायदा पूरा किया। कांगड़ा की दिशा से पराजित होकर गोरखों ने बुशहर राज्य पर आक्रमण किया। कमरू के समीप गोरखों और किन्नरों का युद्ध हुआ, जिसमें गोरखा सेना पराजित हुई।

१८४२ में जनरल जोरावर सिंह ने लाहौल स्पिति अपने अधीन कर लिया और यहां का प्रशासन अपने विश्वस्त सहायक रहीम खां को सौंपा। रहीम खां एक निर्दयी और क्रूर शासक था। उसने बौद्ध मठों और हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया। यहां के लोगों ने भागकर बुशहर में शरण ली। आखिरकार रहीम खां मारा गया।

१८४५ में सिक्खों के साथ युद्ध में लाहोल स्पिति अंग्रेजों को मिला, जिसे अंग्रेजों ने १८४७ में कांगड़ा जिला का भाग बनाया। इसी दौरान अंग्रेजों ने हिमाचल प्रदेश पर अपना आधिपत्य बढ़ाया। गोरखों को पहाड़ों से भगाकर अंग्रेजों ने कोटखाई, कोटगढ़, कुल्लू को अपने साम्राज्य में मिलाया। अपना राजनीतिक प्रतिनिधि इन पहाड़ी राज्यों की देख-रेख के लिए नियुक्त किये। इन पहाड़ी राजाओं को अपनी सेनायें रखने का अधिकार भी धीरे-धीरे छीन लिया और ये ब्रिटिश सरकार के कृपा-भाजन बने।

साधारण जनता के कल्याण के लिए जैसे पिछले एक हजार से भी अधिक वर्षों से कुछ नहीं हुआ था, ब्रिटिश काल में भी कुछ नहीं हुआ। ब्रिटिश सरकार ने इन सभी पहाड़ी राज्यों में परस्पर कटुता, भेदभाव और ईर्ष्या बनाये रखी। भौगोलिक, भाषाई, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, पारम्परिक एकता होते हुए भी उन्हें विभाजित रखने की जान-बूझकर कोशिश जारी रखी।

परन्तु युगों से रौंदी गई जन-शक्ति हाथ-पर-हाथ धरे बैठी रही हो, ऐसी बात नही। सामन्ती यातनाओं का बांध यदा-कदा कहीं-कहीं पूरे वेग से फूट पड़ता था।

१८२५ में कोटखाई, कोटगढ़ की जनता ने अपने निरंकुश शासक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। मजबूर होकर मेजर कैनेडी एक सैनिक टुकड़ी लेकर कोटखाई गया और वहां के राणा को पेंशन देकर यह क्षेत्र ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। १८५९ में बुशहर में विद्रोह हो गया और १८७६ में सुकेत की जनता बज़ीर नरोत्तम के विरुद्ध भड़क उठी। मंडी में शोभाराम के नेतृत्व में विद्रोह की ज्वाला भड़की। १८७६ में नालागढ़ के लोगों ने वज़ीर गुलाम कादिर खां के विरुद्ध जमकर लड़ाई लड़ी। १८८३ और १९३० में बिलासपुर के सामन्ती

शासन के विरुद्ध बिलासपुर की जनता ने आवाज उठाई । १६०५ में बाघल के लोगों ने भी राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया । इसी तरह की छुट-पुट घटनाओं द्वारा हिमाचल प्रदेश की सभी छोटी-बड़ी रियासतों में आतंकवाद के विरुद्ध असहाय, अपढ़ और कठिनाई से घिरी जनता ने विद्रोह किया ।

कांगड़ा ने रामसिंह पठानिया के नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध तलवार उठाई। परन्तु अन्त में अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो नीति सफल हुई । घर का भेदी लंका ढाए के फलस्वरूप रामसिंह पठानिया की सारी योजना मिट्टी में मिल गई । रामसिंह को पहाड़चन्द की सहायता से अंग्रेजों ने कैद कर सिंगापुर भेज दिया । १८५७ में जतोग और कसौली में स्थानीय सिपाहियों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह किया । परन्तु अरकी के राजा कृष्णसिंह की सहायता से इस विद्रोह को दबा दिया गया । प्रथम महायुद्ध में भाई हृदयराम और हरदेव अंग्रेजों को खदेड़ने के लिए ग़दर पार्टी में सम्मिलित हुए । १६३६ से इन पहाड़ी रियासतों में प्रजा मंडल आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। पहाड़ी राजाओं ने सभी जगह जनता की स्वतन्त्रता और समानता की पुकार को दबाने की कोशिश की, पर कब तक ? १६३६ में धामी सत्याग्रह के फलस्वरूप राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान भी आकर्षित किया । महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू ने राणा के आंतक के विरुद्ध आवाज़ उठाई ।

सिरमौर में मियां घूघू, बस्तीराम पहाड़ी, चेतसिंह वर्मा, वैद्य सूरतसिंह और शिवानन्द रामौल, शिमला क्षेत्र में पद्मदेव सत्यदेव बुशहरी, भागमल सौहटा, बिलासपुर में दौलतराम सांख्यान और मास्टर सदाराम, कांगड़ा में पहाड़ी गांधी बाबा काशीराम के नेतृत्व में कामरेड रामचन्द्र और ठाकुर पंचमचन्द्र ने मिल-कर स्वतन्त्रता आंदोलन में प्राण फूंके । राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आंदोलन में हिमाचल प्रदेश की जनता ने सक्रिय सहयोग दिया। पहाड़ी राजाओं के लिए जनशक्ति को उनके मूल अधिकार से वंचित रखना कठिन हो गया ।

हिमाचल प्रदेश की ३१ छोटी-बड़ी रियासतों में भी देश की स्वतन्त्रता के लिये आन्दोलन तीव्र हुआ । एक सुव्यवस्थित रूप से स्वतन्त्रता-आन्दोलन जोर पकड़ता गया । आखिरकार १५ अगस्त,१६४७ के दिन भारत की स्वतन्त्रता के साथ-साथ हिमाचल प्रदेश की सभी रियासतों के राजाओं ने एक निर्णय लिया । जिसके अनुसार ३० रियासतों ने एक इकाई के रूप में विलय की घोषणा की और १५अप्रैल, १६४८ के दिन वर्तमान हिमाचल प्रदेश की स्थापना हुई । पहली जुलाई, १६५४ के दिन बिलासपुर राज्य भी इसमें मिल गया। पंजाब के पुर्नगठन के फलस्वरूप पहली नवम्बर, १६६१ के दिन पंजाब से पहाड़ी क्षेत्र शिमला, कांगड़ा, कुल्लू, लाहौल स्पिति, नालागढ़, ऊना, डलहौज़ी इत्यादि हिमाचल प्रदेश में मिला दिये

२५ जनवरी, १९७१ तक हिमाचल प्रदेश एक केन्द्र शासित प्रदेश रहा, परन्तु उसी दिन से उसे पूर्ण राज्यत्व का दर्जा दिया गया। हिमाचल प्रदेश को प्रशासनिक रूप से १२ जिलों में विभक्त किया गया है, जिनके नाम हैं शिमला, कांगड़ा, कुल्लू, सिरमौर, किन्नौर, लाहौल स्पिति, ऊना, सोलन, बिलासपुर, चम्बा और मंडी। हिमाचल की कुल आबादी ४० लाख के लगभग है और क्षेत्रफल ५५,६५८ वर्ग किलोमीटर। ९५ प्रतिशत लोग ग्रामों में रहते हैं।

धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराएं

"संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।"

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिमाचल के लोग परस्पर साझे धर्म, परम्परा, संस्कृति, रीति-रिवाज, रहन-सहन और सामाजिक गठन से सम्बद्ध हैं। यहां के ९६ प्रतिशत से भी अधिक लोग हिंदू-धर्मावलम्बी हैं। इस प्रदेश के ६,००० से भी अधिक मंदिरों में स्थापित देवी-देवताओं की पूजा होती है। हिमाचल में ऐसा घर या ग्राम दीपक लेकर खोजने से भी न मिल सकेगा, जहां किसी देवी-देवता का पवित्र स्थान न हो। और नहीं तो लोग समीप की झाड़ी, वृक्ष या ऊंचे स्थान पर कुछ पत्थर रख कर, वहां ध्वजा, लाल या केसरिया कपड़ा लगाकर पूजा करते हैं।

हिमाचलवासियों का लोक-जीवन धर्म की सुदृढ़ नींव पर ढला है। धर्म उनके जीवन का बल और सम्बल है। धर्म यहां के लोक-जीवन में पृष्ठ-भूमि का काम देता है। यहां के लोक-गीतों, लोककथाओं, लोकोक्तियों, लोक-नृत्य और दैनिक आचरण—सभी में धर्म का कोई-न-कोई तत्व अवश्य उपलब्ध होता है। बात-बात में ग्रामीण जन भाग्य व ईश्वर-इच्छा और कर्मवाद की दुहाई देते हैं। संसार में, देश में, हमारे चारों ओर जो बुराइयां हैं, विषमताएं हैं उनका मूल कारण वर्तमान या पिछले जन्म के कर्मों का फल ही बतलाया जाता है। कर्म और भाग्य शब्द प्रायः एक ही अर्थ के द्योतक समझे जाते हैं।

देवी-देवताओं में ग्रामीण जनता की प्रगाढ़ श्रद्धा है। कोई मनोकामना, कोई संकट सामने आ गया हो या कोई विशेष खुशी हो, ऐसे मौकों पर देवी-देवताओं के नाम पर विशेष पूजा और उत्सव होते हैं। सामूहिक रूप से जितने पुराने मेले या त्यौहार जहां-जहां लगते हैं, उनका सम्बंध भी किसी-न-किसी देवी-देवता से अवश्य जुड़ा रहता है।

उत्सव वाले दिन देवी-देवता को सुन्दर पालकी में बिठाकर नरसिंहा, छड़ी, ध्वजा, ढोल, नगाड़ा, शहनाई, ताल, करताल और कभी-कभी नर्तकों के दल सहित स्थान पर जुलूस की शक्ल में ले जाया जाता है। देवता को पवित्र स्थान पर

बैठाकर ग्रामीण लोक-वाद्यों और लोक-गीतों की ताल पर लोक-नृत्य करते हैं। दूर-दूर से स्त्री-पुरुष आकर ऐसे अवसरों की शोभा बढ़ाते हैं। कहीं सामूहिक नृत्यों से, कहीं ठोडे का खेल, कहीं झूला, कहीं लामण से, कहीं मिठाइयों के आदान-प्रदान से लोग जी भरकर मनोरंजन करते हैं।

ईश्वर या किसी देवता या देवी का कृपाभाजन बनने के लिए या किसी मनोरथ सिद्धि के लिए स्त्रियां और पुरुष समय-समय पर विभिन्न व्रतों का सम्पादन करते हैं। सप्ताह में एक बार या वर्ष के विभिन्न मासों में विभिन्न कार्यों की सिद्धि के लिए व्रत करते हैं। समीप के मंदिर में या घर में किसी पवित्र स्थान, चित्र या प्रतिमा के सामने पूजा कर चन्द्रमा या सूर्य की पूजा भी करते हैं।

जन-साधारण अनेक प्राचीन रुढ़ियों, परम्पराओं, रीति-रिवाजों तथा विश्वासों पर अमिट आस्था रखते हैं। सच तो यह है कि उनका समस्त जीवन धर्म, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से घिरा हुआ है। इसी प्रकार यहां के लोक-गीतों और कहावतों में सतीत्व, सदाचार, सत्य और विश्वास के प्रति जो प्रगाढ़ दृढ़ता की झलक दिखाई पड़ती हैं उसकी सतत प्रेरणा धर्म से ही मिली है।

कई जगह गाय का दूध बिना देवाज्ञा के बच्चों को नहीं पिलाया जा सकता। इसी प्रकार देवता के सामने नंगे सिर जाना, झूठ बोलना वर्जित है और जो वायदा किया हो, उसे अवश्य पूरा करना होता है, नहीं तो देवता का श्राप लगता है, जिससे बचना बड़ा असंभव है।

प्रत्येक देवी-देवता का काम सुचारु रूप से चलाने के लिए सम्बन्धित ग्रामवासी एक कारदार चुनते हैं, जो कई स्थानों पर प्रायः परम्परागत ही होते हैं। जब कोई सामूहिक या व्यक्तिगत निर्णय देवता से मांगना हो, तो सारे ग्रामीणों की एक सभा बुलाई जाती है। देवी या देवता अपनी देववाणी अपने चुने हुए माध्यम द्वारा अपने श्रद्धालुओं पर प्रकट करता है। कभी-कभी देवता अत्यंत रुष्ट भी हो जाता है और कुछ नहीं कहता। ऐसी परिस्थिति में ग्रामवासी एवं श्रद्धालु देवता की मिन्नतें भी करते हैं। माध्यम द्वारा ही देवता आज्ञाएं, प्रसन्नता या रोष, उपदेश या चेतावनी अपने श्रद्धालुओं पर प्रकट करता है।

मंदिर या जिस स्थान पर देवी-देवता हो, वहां तक कोई भी अपवित्र वस्तु ले जाना वर्जित है और हरिजन लोग भी देवता में अगाध श्रद्धा के कारण मंदिर-प्रवेश पर कोई ज़ोर देना ठीक नहीं समझते। सूतक-पातक में भी मंदिर-प्रवेश वर्जित है। इसका उल्लंघन करने वाला दंडित किया जाता है और मंदिर की शुद्धि विशेष पूजा-विधि से करना आवश्यक समझा जाता है।

हिमाचलवासी जिन देवी-देवताओं को पूज्य समझते हैं, उन्हें मुख्यतः तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक शैवमतावलम्बी, जैसे भूतनाथ,

महादेव, महासू और उनके अनेक गण तथा शक्ति के अनेक रूप; द्वितीय श्रेणी में दर्शनार्थ तथा विष्णुमतावलम्बी जैसे ठाकुर, रघुनाथ, माधव, कृष्ण, राधा, लक्ष्मी, हनुमान इत्यादि। तीसरी श्रेणी में वे देवी-देवता आते हैं जिन्हें सारे हिमाचलवासी ग्राम-देवता के रूप में पूजते हैं और दूर-दूर के गांव से भक्त यात्री उनके मंदिरों में चढ़ावा चढ़ाने आते हैं। इसके अतिरिक्त हाटकोटी की देवी, सराहन में भीमा काली, बिलासपुर में नयना देवी, मंडी में भूतनाथ, टारना, कमरू नाग, कुल्लू में रघुनाथ, बिजली महादेव, हिडम्बा, कांगड़ा में ब्रजेश्वरी, हमीरपुर में ज्वालामुखी, ऊना में चिन्तापुरणी, सिरमौर में रेणुकादेवी, चम्बा में मणि-महेश और त्रिलोकीनाथ, किन्नौर में देवी चंडिका, महेशू, लाहौल स्पिति में अनेक बौद्ध-मन्दिरों के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

लाहौल स्पिति और किन्नौर में लामा लोग अपने भिक्षुवेष में हाथ में प्रार्थना-चक्र लिए प्राचीन बौद्ध-मंदिरों की यात्रा करते हुए प्रायः मिल जाते हैं। पुण्य-धाम कैलाश और कमरूगढ़ भी हिन्दुओं के पवित्र स्थान हैं।

हिमाचल प्रदेश के कुछ मंदिर वाह्य शिल्पकला के कारण, कुछ मूर्तिकला भित्तिचित्र के कारण, कुछ देवी-देवताओं, सिद्धों, योगियों और महात्माओं के साथ जुड़े हुए होने के कारण पवित्र समझे जाते हैं। इन मन्दिरों के साथ हिमाचल प्रदेश के निवासियों की अगाध श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, परिश्रम और अदम्य प्रेम असीम मात्रा में जुड़ा हुआ है।

हिमाचल प्रदेश का शायद ही कोई ऐसा गांव होगा, जहां किसी देवी-देवता का मन्दिर या स्थल न हो।

शिमला क्षेत्र के प्रसिद्ध देव-मंदिरों में जुब्बल में पिती देवी, हाटेश्वरी, देवता शाड़ी (बनाड़), चौपहल में बीजट और श्रीगुल; कोटखाई में देवता बेन्द्रा चम्वी, क्यारी में दुर्गा और लौंकड़ा, कुम्हारसेन में देवता चतुर्मुख और कोटेश्वर, रामपुर में भीमाकाली, जुनगा में देवता जुनगा और तारादेवी, भज्जी, शांगरी में मूल पडोई, ठयोग में महासू गिनैड़ी, कठान का डूम देवता और नाग देवता के मंदिर युग-युगों से जनता के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन की धुरी बने हुए हैं।

मंडी नगर में भगवान भूतनाथ, माधव राव, श्यामाकाली, अर्द्धनारीश्वर, इत्यादि के असंख्य मंदिर अपनी शिल्पकला, प्राचीनता और लोगों के धार्मिक जीवन का परिचय देते हैं। ऋषि पाराशर, देव कमरू नाग, माहुनाग इत्यादि के मंदिर आज भी पहाड़ी मंदिरों में श्रेष्ठ गिने जाते हैं।

मंडी से १२ मील दूर रिवालसर झील और बौद्ध-मंदिर बौद्धों, हिन्दुओं तथा सिखों के लिए समान पूज्य तीर्थ स्थान हैं। जहां बौद्ध और तिब्बती यात्रियों के लिए पद्मसंभव की आत्मा विचरती है, वहां हिन्दुओं के लिए यह स्थान लोमस ऋषि की तपोभूमि तथा भिक्षु और राजकुमारी की अन्यायपूर्ण

हत्या के कारण उनकी विचरण-स्थली है। ऐसे ही कई लोगों का विश्वास है कि झील के नीचे नागदेवता के भवन बने हैं और इस प्रकार इसका सम्बन्ध नागपूजा से जुड़ता है। सिखों के दशमेश गुरू गोविन्दसिंह जी मंडी पधारे थे और रिवालसर झील के किनारे तपस्या करते थे। इसी प्रकार मंडी में अनेक अन्य पवित्र स्थान हैं, जैसे कमरू नाग, माहुनाग, भूतनाथ, देव पाराशर इत्यादि।

सिरमौर में रेणुका अपने प्राकृतिक वैभव के लिए प्रसिद्ध है। कार्तिक एकादशी के दिन हजारों यात्रियों का समूह परशुराम मंदिर में विष्णु के अवतार परशुराम को श्रद्धा के पुष्प चढ़ाते हुए निज श्रद्धा प्रकट करते हैं। पांवटा साहिब में सिखों का प्रसिद्ध ऐतिहासिक गुरुद्वारा है, जहाँ दशमेश गुरू गोविन्दसिंहजी ने तीन वर्ष व्यतीत किये। चूड़ाधार स्थित देवता श्रीगुल का मंदिर भी जनता की धार्मिक वृत्ति का प्रतीक है। नाहन में जगन्नाथ और काली स्थान के मंदिर भी उल्लेखनीय है।

चम्बा में भी देवी-देवताओं के अनेक प्राचीन मंदिर इस क्षेत्र के दुर्गम होने के कारण अब तक अपने प्राचीन रूप में विद्यमान हैं। अखण्ड चण्डी का महल, नगर के मध्य में मीलों से अपनी झलक दिखाता है। इस महल की उत्तर-पश्चिमी दिशा में एक ही पंक्ति में ६ प्राचीन मंदिर ६२० ई० से लेकर वर्तमान के मुंह में झांक रहे हैं। भरमौर से १८ मील की दूरी पर १३,००० फुट की ऊंचाई पर मणिमहेश की प्रसिद्ध झील है। यहां पर प्रतिवर्ष काश्मीर में अमरनाथ के समान हजारों यात्री भगवान शिव के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा प्रकट करते हैं। भगवान शिव की संगमरमर की प्रतिमा झील के एक किनारे पर स्थापित की गई है और इसके समीप ही १८,५६४ फीट ऊंचा पर्वत है। इस पर्वत का शिखर प्रायः धुंध और बादलों से घिरा रहता है और वह व्यक्ति अपने-आपको धन्य समझता है, जो किसी पवित्र अवसर पर इस पुण्य शिखर के दर्शन कर ले। इसी तरह लक्षा देवी, भरमौर, शक्ति देवी छतराड़ी, काली मृकुला (उदयपुर), लक्ष्मी नारायण मंदिरों के नाम गिने जा सकते हैं।

लाहौल स्पिति में ग्रिफिन और कैलंग देवता के मंदिर, तथा कारडुंग और शसुर के बौद्ध मठ इस क्षेत्र के धार्मिक जीवन को प्रेरणा देते रहते हैं। चम्बा जिला में स्थित मरकुला ग्राम (प्राचीन नाम मरगुल या मारूल) में मरकुला देवी का सुन्दर और कलापूर्ण मंदिर है। तिब्बती बौद्ध यात्री इस मंदिर में स्थापित देवी को मरकुला न कह कर दोरजे फग्मो कहते है। इसी प्रकार चम्बा की प्राचीन राजधानी भरमौर में स्थित लक्षणा देवी का मंदिर तथा छतराड़ी में शक्ति देवी का मंदिर भी यहां की जनता के धार्मिक जीवन के प्रतीक हैं। इसी तरह पांगी क्षेत्र में मिंधल देवी का मंदिर है।

लाहुल की चन्द्रभागा नदी के स्रोत की ओर चम्बा, से ६० मील की दूरी

पर तुंदे ग्राम स्थित है, जहां पर त्रिलोकीनाथ का मंदिर स्थित है। केवल साहसी या दिवाना भक्त ही इस कठिन यात्रा को पूरी कर सकता है। यद्यपि त्रिलोकीनाथ मूलतः बौद्ध तीर्थ है, परन्तु फिर भी हिन्दू लोग इस मंदिर को अगाध श्रद्धा से देखते हैं। बौद्धों के लिए मंदिर फगरथा-चरणजय का मंदिर है। अन्य यात्रियों के लिए यह मंदिर तीनों लोकों के स्वामी त्रिलोकीनाथ का मंदिर है। तीन फुट ऊंची श्वेत पाषाण प्रतिमा पद्मासन स्थिति में बैठी दीखती है। छः बाहुओं में से एक दाहिनी भुजा आशीर्वाद की मुद्रा में और बायीं भुजा में एक कमल का पुष्प है। मुकट पर असीम प्रकाशयुक्त महात्मा बुद्ध की प्रतिमा है। मंदिर में यदि कोई क्षति हो जाये, तो यह राज-परिवार में किसी मृत्यु की भविष्यवाणी का द्योतक समझा जाता है। वर्ष में इस मंदिर के सामने कई उत्सव होते हैं। भगवान त्रिलोकीनाथ के भक्त सैकड़ों की संख्या में आकर इस मेले की शोभा बढ़ाते हैं।

कुल्लु मनाली जहां अपने प्राकृतिक वैभव के लिए प्रसिद्ध है, वहां देवी देवताओं के छोटे-बड़े मंदिरों और उन पर आस्था रखने वाली जनता की आज के भौतिकवाद युग में भी कमी नहीं। इन अगणित असंख्य मंदिरों में से भगवान रघुनाथ, बिजली महादेव, हिडम्बा देवी (सुंगरी देवी), मनाली, महेश्वर, सुंगरा, त्रिपुरा सुन्दरी देवी नगर, जमलू मलाणा, त्रिजुगी नारायण दयार, देवी चुंगेरसा, चंग देवी, मंजनी देवी, अम्बिका, निर्मण्ड आदि ब्रह्मा, खोखण, मनुमनाली जैसे मंदिर उल्लेखनीय हैं। इन मंदिरों में न केवल स्थानीय जनता अपितु पर्यटकों ने भी विशेष रुचि दिखाई है।

कांगड़ा का तो कहना ही क्या। यह अपने ऐतिहासिक प्राचीन खण्डहरों, चित्रकला एवं हिन्दू मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। समय-समय पर मुसलमानों के आक्रमण और १९०५ में भयानक भूकम्प के फलस्वरूप असीम तबाही के बाद भी अनेक ऐतिहासिक महत्त्व की यादगारें आज भी उपलब्ध हैं। धर्मशाला से २२ मील की दूरी पर मसरूर स्थान पर चट्टान से निर्मित १५ मंदिर हैं, जिन पर गुप्तकालीन भवन निर्माण-कला की गहरी छाप स्पष्ट झलकती है। बैजनाथ में शिव का प्रसिद्ध मंदिर लगभग १००० वर्ष से भी पुराना है। बैजनाथ में वैसे तो १६ और मंदिर है जो प्राचीन हैं, परन्तु यही मंदिर अधिक प्रसिद्ध है। कांगड़ा में इन्द्रेश्वर का छोटा मंदिर तथा भगवती ब्रजेश्वरी का विशाल मंदिर, कांगड़ा दुर्ग के एक ओर भवन में स्थित है। इसी मंदिर के साथ अनेक अन्य प्राचीन मंदिर हैं। वर्ष में दो बार अप्रैल और अक्टूबर में इस मंदिर में विशेष उत्सव होते हैं। ऐसे अवसरों पर विशेषकर हजारों भगवती के उपासक यहां आते हैं। कांगड़ा से १६ मील की दूरी पर भगवती ज्वालामुखी का प्रसिद्ध मंदिर है। इस मंदिर की यात्रा के लिए केवल हिमाचल प्रदेश से ही नहीं अपितु

देश के अनेक भागों से प्रतिवर्ष हजारों यात्री आते हैं। वर्ष में दो बार यहां सितम्बर अक्टूबर तथा मार्च में विशेष पूजा होती है। इसी प्रकार ऊना में चिंतपुरनी, नर्वदेश्वर, सुजानपुरतीरा, रामगोपाल, दमतल, बज्रराज स्वामी नूरपुर, शिव मंदिर तिलोकपुर तथा बाबा बालकनाथ, देवट सिद्ध जैसे गुफा मंदिर भी आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के पुण्य आकर्षण-स्थल हैं।

किन्नौर के प्रसिद्ध मंदिरों में शुंगरा, महेशुरा मंदिर, चण्डिका देवी, कोठी धनेश्वरी, ऊखा, निचार, बौद्ध गोम्पा, जंगी, कानम, चीनी, रंग मिचो, ताशीगोंग, लबरंग सुनाम, शिवलकर, लिया और थागी उल्लेखनीय हैं। लाहौल के प्रसिद्ध गोम्पा करदंग, शशुर, गुरूघंटाल में है और स्पिति में की डंखर, टाबो, ठंगुर और पिन के गोम्पा बौद्धों के पवित्र धाम हैं।

बिलासपुर में भगवती नयना देवी, व्यास गुफा, गुग्गा इत्यादि के मंदिर और सोलन में देवी भगवती, माहूनाग इत्यादि के अनेक मंदिर हैं।

इस सारे बृत्तांत से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि हिमाचलवासियों की धार्मिक वृत्ति को पोषण देने के लिए इन मंदिरों का विशेष योगदान प्राचीन काल में तो रहा ही है; परन्तु आधुनिक युग में भी स्थानीय जनता के जीवन पर इनकी गहरी छाप है।

पारिवारिक जीवन

हिमाचल का पारिवारिक जीवन अत्यन्त सुखद, शान्त और सादा है, जिस पर देश के आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक विकास का काफी प्रभाव पड़ा है। १६४८ तक लोग बड़े संयुक्त परिवार में रहते थे। धीरे-धीरे परिवारों का गठन छोटा पड़ रहा है। पहले तो परिवार का मुखिया चतुर और कमाने वाला बड़ा-बूढ़ा समझा जाता था परन्तु अब छोटे परिवार की ओर झुकाव होने के कारण पिता ही मुखिया है। पैतृक परिवार की आरंभ से प्रथा है। घर की स्त्री भले ही कई पुरुषों से दीर्घ आयु की हो तथा चतुर, सूझ-बूझ वाली और घरेलू कामकाज में निपुण हो, उसका स्थान हर स्थिति में दूसरा ही होता है।

एक संयुक्त परिवार में मां-बाप, दादा-दादी, पुत्र-पुत्री या पौत्र-पौत्रियां ही प्राय: रहती हैं। मां-बाप के रहते सब भाई और उनका परिवार इकट्ठे रहते हैं। परन्तु उसके बाद सब भाई अपनी सुविधानुसार विभाजन कर देते हैं।

उन पुरुषों को छोड़कर जो नौकरी या मजदूरी करते हैं, शेष घर के पुरुष खेतों में हल चलाना, पशु और भेड़ बकरियां चराना, लकड़ी काटना-ढोना बगीचे और फसलों की देख-भाल करना, आटा पीसने, घराट जाना, रिश्ते-नाते में पाहुनचारी, शादी-गमी, नाचना-गाना, राशन लाना इत्यादि कामों में सम्मिलित होते हैं। फिर भी स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का काम सरल, मनमौजी

और कम होता है।

पुरुष की अपेक्षा गृहिणी को पौ फटते उठना होता है। उठकर समीप की बावड़ी से पानी लाना, गाय और भैंस दुहना, चाय या दूध बनाकर सारे परिवार के लिए सुबह का खाना बनाना, बच्चों को नहलाना, परिवार के लिए भोजन तैयार करके खिलाना, खेतों में जाकर पुरुषों की सहायता करना, घास काटना, गोबर खेतों तक ले जाना, फसल काटकर खलिहानों तक ले जाना, लकड़ी जंगल से लाना, सारे परिवार के कपड़े धोना, फसलों की निदाई करना, रात को फिर भोजन बनाना और खिलाना, बरतन धोना, बच्चों को सुलाना, घर की सफाई करना, सब करने के बाद सबसे बाद में सोना—यही हिमाचली नारी के जीवन में बदा है। वैसे तो स्वतन्त्रता के बाद हिमाचल प्रदेश के गठन के फलस्वरूप हिमाचलवासियों के सामाजिक जीवन में काफी परिवर्तन हुए हैं, परन्तु हिमाचल की ग्रामीण नारी का जीवन अब भी श्रम और उपेक्षा से बोझिल है। केवल मेलों और अन्य उत्सवों पर ही उसे मनोरंजन का अवसर मिल पाता है। ऐसी ही अवस्था में नारी मन अपनी वेदना को गीतों में बिखेर देता है—

बरशे जा पाणिया पाथरौ नभीजौ,
कलौजुगौ रा मांछौ शांघं काटियौ न धीजौ।

अर्थात् कलियुग के पुरुष के लिए चाहे कितना श्रम, प्रेम, भक्ति और त्याग किया जाए, परन्तु उस निष्ठुर पर नारी के समर्पण का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता।

पारिवारिक जीवन में जो मर्मस्पर्शी दृश्य यहां के लोक-गीतों में उपलब्ध होते हैं, उनके दर्शन अन्यत्र कहां ? पुराने समय में जब कुछ क्षेत्रों में बहुपत्नी प्रथा थी, तब गृह-कलह प्रायः देखने में आती थी। इसी तरह सास-बहू के झगड़े भी। बहु पति-प्रथा भी अब धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है, क्योंकि नई पीढ़ी की दृष्टि में यह पुरानी परम्पराएँ ठीक नहीं उतरतीं। आधुनिकता की छाप से हिमाचलवासियों का पारिवारिक जीवन भी अछूता नहीं है।

रीति-रिवाज

रीति-रिवाज द्वारा ही सामाजिक जीवन का बहाव ग्रामीण और अनपढ़ लोगों की बीच बहता है। इसके अनुसार कुछ कार्य करना जो समाज के लिए कल्याण-कारी या समाज में बहुसंख्यक के लिए लाभकारी है, आवश्यक समझे जाते हैं। रीति-रिवाजों की तथाकथित अच्छाई से इसे वह भावनात्मक महत्व प्राप्त होता है जिसकी शक्ति तभी महसूस होती है, जब रीति-रिवाज तोड़ने का कोई प्रयत्न करता है। ऐसे उल्लंघन को उस समूह का निरादर समझा जाता है, जिनका दृष्टि-कोण जीवन में, इसकी आशाओं और आदर्शों में, उनके रीति-रिवाजों में

प्रतिबिम्बित होता है, विशेषत: तब जब यह धार्मिक और पवित्र रूप धारण कर लेते हैं।

रीति-रिवाज किसी समाज-विशेष द्वारा निश्चित व्यवहार के नियम होते हैं, जिन्हें परम्पराओं से निभाया जाता है और जिनको भंग करना अनुचित समझा जाता है। रीति-रिवाजों द्वारा ही सामाजिक जीवन की धारा, विशेषत: जहां लोग अनपढ़ हों, बहती रहती है। रीति-रिवाज द्वारा ही समाज-विशेष की विरासत का संरक्षण हो पाता है। किसी स्थान के लोक-जीवन की झलक रीति-रिवाजों से भी मिलती है।

विवाह से पहले या सुहागवती स्त्री का बाल काटना या बाल कटे होना वर्जित है। ऐसा केवल विधवा होने पर ही होता है। विधवा स्त्री कोई गहना भी नहीं पहनती।

सरकार के अनेक प्रयत्नों के होते हुए भी अन्तर्जातीय विवाह के लिए सामाजिक प्रतिक्रिया उत्साहवर्द्धक नहीं है। इसी प्रकार अनुसूचित जाति के किसी पुण्य कार्य, जैसे कथा, देवयज्ञ आदि में अपने-आपको श्रेष्ठ मानने वाले ब्राह्मण खाना तो दूर, पूजा करना भी ठीक नहीं समझते। ऐसी ही अनेक सामाजिक विषमताएं हैं। ऐसे सामाजिक वैषम्य को मिटाने की दिशा में, ऐसे लगता है, हमें अभी बहुत दूर जाना है।

किसी के घर लड़का उत्पन्न हो, तो सब गांव वाले तथा रिश्तेदार बधाई देने आते हैं और सबको गुड़ बांटा जाता है। लेकिन जब लड़की पैदा होती है तो कोई बात तक करना भी ठीक नहीं समझता। इस बारे में पहाड़ी में एक कहावत है—

छोहटी रै हुम्रौ चिन्न पस्तावै
एक जांदे, एक बिन्दै, एक मौरदै

(लड़की उत्पन्न होने के फलस्वरूप मां-बाप को तीन समय दु.ख होता है—एक पैदा होने पर, दूसरा विवाह में विदाई पर, तीसरे मरने पर)

ऐसा होते हुए भी पूजा में या अन्य अवसरों पर कन्या को दान देना परम पुण्य समझा जाता है।

देवयज्ञ, सत्यनारायण कथा, विवाह एवं शोक—किसी एक परिवार का होते हुए भी, गांव वालों का सांझा कार्य समझा जाता है। इसी प्रकार गांव में कोई नया मकान बन रहा हो, कहीं समीप ही नदी पर पुल बांधना हो या कोई सामूहिक कार्य हो, स्कूल या गांव की सड़क के लिए श्रमदान करना हो, तो सामूहिक रूप से मुख्यत: एक गांव और आवश्यकता पड़ने पर समीप के गांव के लोग भी हाथ बटाने में तत्पर रहते हैं। इसी प्रकार ग्राम-देवता की सवारी गांव से बाहर जानी हो, तो सारे गांव वाले मिलकर देवता के साथ जाते हैं।

· ऐसा व्यक्ति जो ग्रामीण समाज की मान्यताओं का उल्लंघन करता है और फिर दण्ड देने से इंकार करता है, उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है और लोग उसके किसी काम में सहायता नहीं देते हैं।

सन् १९४८ तक यहां के रीति-रिवाजों पर बाहर की छाप बहुत कम थी, क्योंकि यातायात के साधन और पहाड़ी क्षेत्रों की दुर्गमता के कारण वह निरन्तर विकासशील विश्व के प्रभाव से अछूता रहा।

रबी और खरीफ की फसल बोने से पहले लोग प्रायः ब्राह्मण को पूछ लेते हैं कि कौन-सा दिन ठीक रहेगा। कई जगहों पर फसल की प्रथम उपलब्धि स्थानीय देवी-देवता को भेंट की जाती है। फसल कटाई के समय लोग प्रायः या तो प्रसाद बनाकर सब दिशाओं में बिखेरते हैं या मुट्ठी भर आटा लेकर बिखेरा जाता है और शेष भाग फसल काटने वाले परस्पर बांट लेते हैं। यदि एक के स्थान पर दो बालियां लग जायं, तो समृद्धि का चिह्न समझा जाता है। संक्रांति, जन्माष्टमी, शिवरात्रि एवं अन्य प्रमुख धार्मिक पर्वों के दिन हल चलाना वर्जित है।

कानूनी मुकदमों को छोड़कर सभी सामाजिक और धार्मिक झगड़े प्रायः डूम और खुमली में निपटाये जाते हैं।

कोई व्यक्ति यदि अपने से नीची जाति से विवाह कर ले या किसी ग्रामीण समाज के घोर अपराध के लिए बहिष्कृत कर दिया गया हो, उस आदमी को जात में फिर से मिलाने के लिए देवी-देवता में गांव की सारी बिरादरी इकट्ठी होती है। परस्पर पूरी बातचीत के बाद उस आदमी को बुलाकर ब्राह्मण के हाथ से मंत्र के साथ उस व्यक्ति को पंचगव्य पिलाया जाता है। सारी बिरादरी भोज में जाति-बहिष्कृत आदि के साथ भोजन करती है, फिर देवी या देवता को भेंट चढ़ाकर उसे बिरादरी में मिला लिया जाता है। परन्तु ईसाई या मुसलमान बनने पर ऐसा संभव नहीं।

किन्नौर, स्पिति और लाहौल में हिन्दू-धर्म का रीति-रिवाजों पर प्रभाव है। स्त्री के गर्भिणी होने पर गर्भ-रक्षा के लिए लाया कागज या भोजपत्र पर लिखे मन्त्र को गर्दन पर बांधते हैं। पुत्र होने पर डोलमा (तारा) देवी की पूजा होती है, और लामा बुम-छुम का पाठ करते हैं। दो सप्ताह तक मां को अछूत माना जाता है। लाहुल में लड़कों के भोटी और देशी दो-दो नाम होते हैं।

मृत्यु के समय सभी लोगों में अनाज बांटा जाता है। लामा किसी बौद्ध सूत्र का पाठ करते हैं। श्मशान यात्रा बड़ी धूमधाम से निकाली जाती है। अस्थियों का प्रवाह पहले तो मानसरोवर तक, पर अब रिवालसर या गंगा में किया जाता है। मृत्यु के तीसरे दिन पूजा होती है।

पंचका को मृतक के लिए बहुत बुरा माना जाता है। किन्नौर में मरने के बाद पन्द्रहवें दिन लामा होम-पूजा करते हैं और उन्हें दक्षिणा दी जाती है।

त्यौहार और मेले

त्यौहार और मेले मानव की सामाजिक चेतना के क्रमिक विकास के ऐतिहासिक संस्मरण हैं। मानव ने जब कबीले के रूप में बसना प्रारम्भ किया तभी से उसकी पनपने वाली सामाजिक चेतना और संघ-भावना ने यज्ञ या पूजा की प्रेरणा से आनन्द-प्राप्ति के लिए सामूहिक गीतों, लोक-नृत्यों, त्यौहारों और मेलों को आरंभ किया। यही सामूहिक वृत्ति मंगलमय उत्सवों का रूप धारण कर, मनुष्य समाज की अनेक परम्पराओं में बंधकर तथा धर्म से सम्बन्धित होकर जाति और राष्ट्र के सांस्कृतिक गौरव की प्रतीक बन गई। इसीलिए त्यौहार और मेले लोक-जीवन के सबसे बड़े सांस्कृतिक प्रतिनिधि होते हैं। उत्सवों को रचने की प्रेरणा मन और प्रकृति से मिलती है। प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य ने जैसे सदा कला-सृजन को प्रेरणा दी है वैसे ही प्रकृति ने उत्सवों के सृजन को भी प्रेरणा दी। लोक-भावना ही उत्सवों तथा मेलों की जननी है। हिमाचल के त्यौहारों और मेलों के मूल में भी यही भावना काम करती है।

अन्य पहाड़ी लोगों की तरह, हिमाचलवासियों को भी कठिन परिश्रम द्वारा जीविकोपार्जन करना पड़ता है। परिश्रम की थकान और जीवन की रूक्षता को पहाड़ी लोग हँसी, गीतों और नृत्यों में खो देते हैं। प्रकृति के समान ये प्रसन्नचित्त लोग ऐसे अवसरों की बाट जोहते रहते हैं जब वे नृत्य कर सकें और अपने दुख/सुख को गाकर हल्का कर सकें। ऐसे ही अवसर हैं यहां के मेले और त्योहार।

बच्चे-बूढ़े, नर-नारी, सबको त्यौहारों से प्यार है और ये उनके जीवन के अभिन्न अंग बन चुके हैं। ऐसे अवसरों पर उन्हें अपने सुन्दर, नये और रंग-बिरंगे वस्त्रों, अलंकारों के प्रदर्शन, बातचीत और सौगातों का आदान-प्रदान, और सबसे बढ़कर नृत्य और संगीत का आनन्द उठाकर संसार के दु.खों को भूलने का सुनहरा अवसर मिलता है।

गांव-गांव में, परगनों और तहसीलों में वर्ष में असंख्य मेलों और त्योहारों का आयोजन होता है। लगभग सारे मेले और त्योहारों का सम्बन्ध किसी धार्मिक, पौराणिक कथा या स्थानीय पृष्ठभूमि से जुड़ता है। एक ओर मेले जहां सांस्कृतिक पर्व के रूप में उभरते हैं, दूसरी ओर इनका विशेष व्यापारिक महत्त्व भी है।

हिमाचलवासियों के प्रसिद्ध मेलों में रामपुर की लवी, सिरमौर में रेणुका, चम्बा का मिंजर, मण्डी की शिवरात्री, बिलासपुर का नलवाड़ी, कुल्लू का दशहरा इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

सामूहिक मनोरंजन और उल्लास के साधन त्यौहार और मेलों के अवसर पर हिमाचल निवासियों को उनके यथार्थ रूप में देखा जा सकता है। लवी हिमाचल प्रदेश का एक प्रसिद्ध और बहुत पुराना मेला है। यह मेला प्रतिवर्ष २५ से २७

कार्तिक विक्रमी तदनुसार नवम्बर मास में रामपुर के स्थान पर जुड़ता है। सब जाति और सभी श्रेणी के लोग इसको किसी भेदभाव के बिना मनाते हैं और साल-भर के दुःख और चिन्ताओं को भूलकर एकदम आनन्द-सागर में डूब जाते हैं। गाना-वजाना, नाचना, हँसना और दो घड़ी मौज कर लेना यह जनता की मनोरंजन-वृत्ति की मूल भावना है। गांव-गांव की चाल-ढाल, बोली, ठिठोली-पहनावा इत्यादि इस अवसर पर अपना परिचय स्वयं देते हैं। व्यक्ति व्यक्ति से मिलता है और एक समूह दूसरे समूह से। मेलों पर होने वाली ये मुलाकातें हिमाचली जनजीवन में विविधता, नवस्फूर्ति, नये विचार और अनुभवों का संचार करती हैं।

लोई स्थानीय बोल-चाल में भेड़ या बकरी से ऊन उतारने के लिए प्रयुक्त होता है। इस शब्द का एक अन्य अर्थ लेना या प्राप्त करना भी है। धीरे-धीरे यही शब्द बिगड़ कर लवी बन गया। इस मेले में प्रधानतः ऊन या ऊन से बनी वस्तुओं का व्यापार होता है। मेले के दिनों में लाखों रुपयों का व्यापार होता है। इसलिए लवी मेले का विशेष आर्थिक और व्यापारिक महत्त्व है। इस मेले में ऊन पशम, पट्टू, दोहड़ू, किल्टा गलीचे, नमदे, खेस, बर्तन, न्योजे, चिलगोज़े और कम्बल एवं अन्य स्थानीय वस्तुओं की बिक्री होती है।

लवी मेले में विशेषतः तीन दिन तक खूब चहल-पहल रहती है। भारत के अन्य भागों से भी शौकीन पर्यटक और व्यापारी लोग आते हैं। खूब खेल-तमाशे और भीड़ रहती है। रात को किन्नर और महासू के मनमोहक लोक-नृत्यों एवं लोक-गीतों का प्रबन्ध किया जाता है। ये रोचक लोक-नृत्य और लोक-गीत रात-रात-भर चलते रहते हैं। ये ही लोक-जीवन की अविस्मरणीय तथा वास्तविक पूंजी हैं।

लवी मेले पर नवीनता और प्राचीनता का एक सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। निःसन्देह मनुष्य की वास्तविक थाती—सामूहिक मनोरंजन के साधन मेले और त्यौहार हैं और इनके बिना मनुष्य अपने सामूहिक दुख-दर्द से कभी मुक्त नहीं हो सकता।

लवी मेले के समान ही सिरमौर में रेणुका देवी का मेला भी प्रदेश का एक प्रसिद्ध मेला है। यह मेला सिरमौर की रेणुका तहसील में रेणुका झील के पास मनाया जाता है। यह मेला दिवाली के दस दिन बाद आरम्भ होकर पूर्णिमा तक चलता है। इसमें तीन दिन विशेष उत्सव होते हैं।

प्रसिद्ध रेणुका झील के निकट परशुराम ताल और परशुराम मंदिर है। रेणुका का मंदिर पुरानी देवठी कहलाता है। इस स्थान का वर्णन श्री के० एम० मुंशी ने भी अपने प्रसिद्ध उपन्यास भगवान परशुराम में किया है। मां रेणुका और परशुराम की कथा का सविस्तार वर्णन पुराणों में भी मिलता है।

मेले के अवसर पर रेणुका झील के मनोरम घाट का दृश्य अत्यन्त आकर्षक होता है। मेला देखने का आनन्द तब चरम-सीमा तक पहुंच जाता है, जब झूलापुल के समीप, जो गिरि गंगा पर बना है, यात्रियों और मेला के रसिकों का अपार समूह भगवान परशुराम की पालकी के स्वागत के लिए उमड़ आता है। भगवान परशुराम की पालकी जामू ग्राम से आती है। हिरणसिंगा, नगाड़े, ढोल, शहनाई, करताल जैसे लोकवाद्यों की गूंज के मध्य मां रेणुका और भगवान परशुराम की जयजयकार से वातावरण गूंज उठता है। कटाहा और जामना ग्रामों से भी परशुराम की दो पालकियां जलूस में शामिल हो जाती हैं। यह विशाल जनसमूह रेणुका तीर्थ की ओर बढ़ता है, जहां रेणुका झील का जल परशुराम ताल में प्रवेश करता है। यहां पालकी में रखी परशुराम की स्वर्ण-प्रतिमा उतारी जाती है और उसे जल-स्पर्श कराया जाता है। यह भगवान परशुराम द्वारा मां की चरणवन्दना है। फिर पालकी परशुराम मन्दिर में पहुंचती है, जहां विशेष पूजा करने के बाद प्रतिमा मन्दिर में रखी जाती है। इसके बाद जलूस मेले-स्थल में चारों ओर बिखर जाता है।

दूसरे दिन देवठान एकादशी के दिन प्रातःकाल रेणुका झील के पवित्र जल में स्नान कर यात्रीगण अपनी आध्यात्मिक क्षुधा शांत करते हैं। पहाड़ी और मैदानी दोनों भागों से लोग आते हैं। अनेक मनोरंजन और सांस्कृतिक कार्यक्रमों से मेलों को चार चांद लग जाते हैं।

हिमाचल के परम्परागत और प्रसिद्ध मेलों में चम्बा में मनाये जाने वाले प्रसिद्ध मेला मिंजर का विशेष स्थान है। प्रतिवर्ष, जुलाई के अन्तिम रविवार को या अगस्त के प्रथम रविवार को चम्बा नगरी में खूब चहल-पहल रहती है।

चौगान का विशाल मैदान चारों ओर से दुकानों, रेडियो और बिसाती वस्तुओं से भर जाता है। हर प्रकार की वस्तुओं का व्यापार होता है। हिमाचली जनता भी दूरस्थ ग्रामों से अपनी परम्परागत वेशभूषा और कहीं-कहीं आधुनिकता की छाप लिये मेला की रंगीनी में चार चांद लगाती है।

इस मेले का स्थानीय जनता के लिए विशेष महत्त्व है। चम्बा नगरी समुद्र-तल से ३,००० फीट की ऊंचाई पर स्थित है और चारों ओर से देवदारु से भरी पर्वतमालाओं की शृंखला है। यहां के १०,००० से भी अधिक निवासियों का मूल खाना मक्की पर आधारित है। मिंजर का अर्थ ही मक्की है।

इस मेले का आधार एक उपाख्यान है। आज से ८०० वर्ष से भी पहले रावी नदी वर्तमान नगर स्थली के मध्य से बहती थी। वर्षाऋतु में इसमें काफी बाढ़ आती थी और किनारों पर बसी जनता के जीवन और धन की प्रतिवर्ष बहुत क्षति होती थी। बहुत पूजा और अर्चना के उपरान्त चम्बा नरेश को स्वप्न हुआ कि किसी जीव की विधिवत् आहुति ही रुष्ट देवताओं को प्रसन्न कर

सकती है। फलतः एक भैंसा की बलि ही इसके लिए श्रेष्ठ कार्य समझा गया।

एक हाथी पर सवार राजा जलूस का नेतृत्व करता हुआ नदी किनारे पहुंचता था। एक भैंसे को राजा के कर-स्पर्श से पवित्र कर चारों टांगों से बांधकर नदी में धकेल दिया जाता है। किसी भी दशा में यह भैंसा किनारे पर नहीं लगना चाहिए क्योंकि इसे चम्बा-निवासियों के लिए अपशकुन समझा जाता था। इसलिए किनारे पर खड़े लोग इस भैंसे को लम्बे-लम्बे लठों से किनारे पर आने से पहले नदी की ओर धकेल देते थे।

इस मेले को इस विधि से मनाने के फलस्वरूप नगर की समृद्धि तथा मक्की की फ़सल अच्छी होने की आशा बंधती है। आरम्भ में ऐसी पूजा के कारण नदी ने अपना मार्ग बदला। तब से लेकर यह मेला राज्य-संरक्षण में मनाया जाता रहा है और इसी मेले के अवसर पर ही दुर्गम और दूरस्थानों से लोग आकर अपने राजा के दर्शन भी कर पाते थे।

१५ अप्रैल, १९४८ से चम्बा के हिमाचल प्रदेश का एक ज़िला बन जाने से पुरानी प्रथा ने मानवीय रूप धारण कर लिया है। अब भैंसा की जगह एक नारियल, एक चांदी का सिक्का और एक मक्की नदी को भेंट की जाती है। हिमाचल प्रदेश के उच्च अधिकारी, मन्त्रीगण और स्वयं राजा इसमें भाग लेते हैं। सरकार की ओर से भी इस मेले को जनोपयोगी तथा मनोरंजनार्थ उचित समझकर धन व्यय किया जाता है।

चम्बा में त्रिलोकीनाथ मेला भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चर या कुण मेले बसंतागमन पर मनाये जाते हैं। तीन स्वांग देव के प्रतीक—कुलंजा, गमी और मैक्समी एक जलूस में ले जाए जाते हैं। ग्रामीण देव का पीछा करते हैं और वह गांव से भाग जाता है। अपना स्वांग निकालकर वह गमी और मैक्समी स्वांग वालों के साथ नाचना आरम्भ कर देता है। यह ग्रामवासियों का बसंतागमन पर प्राकृतिक हर्षोल्लास है।

कैलाशपति शिव हिमाचलियों के लोकप्रिय पूज्य देव हैं। अलग-अलग रूपों में शिव-पूजा का इस प्रदेश में प्रचलन है। मण्डी में शिव जनपदीय इष्ट हैं। भूतनाथ के रूप में शिवरात्रि का प्रसिद्ध मेला उन्हीं की आराधना में जुटता है। वसन्तारम्भ में गिरिराज कन्या पार्वती और शिवजी के शुभ विवाह की पुण्य तिथि शिवरात्रि के दिन सब स्थानीय देवगण अपनी पुरातन संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करते हुए हजारों लोगों के साथ मण्डी नगर में पधारते हैं। श्री राज माधव के दर्शनार्थ और भगवान शंकर को अपनी श्रद्धांजलियां अर्पित करते हैं। एक सप्ताह भर मण्डी नगर का कोना-कोना गूंज उठता है। इस विराट देव तथा जन-समूह में जहां प्राचीन परम्पराओं तथा संस्कृति के दर्शन होते हैं, वहां उद्योग, व्यापार, खेल-कूद, विभिन्न विकास तथा सभी कला सम्बन्धी विषय प्रस्तुत करते हैं। इस दिन

विभिन्न देवगण सज-धजकर अपने-अपने रथों पर बाजे-गाजे सहित पड्डल मैदान की ओर प्रस्थान करते हैं और इस विशाल मैदान में एकत्र होते हैं, वह दृश्य अत्यन्त मनोरम होता है। इस मेले में पहले तो ३०० से भी अधिक देवी-देवता अपने दल-बल, गाजे-बाजे सहित आते थे, परन्तु अब सौ से कम देवी-देवता इस मेले में सम्मिलित होते हैं। शिवरात्रि मेले पर हिमाचल के अन्य मेलों की भांति सबसे बड़ा आकर्षण इस अवसर पर लोक-गीतों, लोक-नृत्यों और भांति-भांति के लोक-वाद्यों का प्रदर्शन हैं।

हिमाचल के अन्य क्षेत्रों की भांति वैसे तो कुल्लू में भी मेले वर्ष भर स्थान-स्थान पर बहुविधि रंगीनियों को जुटाने और लुटाने का अवसर प्रदान करते रहते हैं, परन्तु इन सबमें दशहरा का स्थान सर्वोपरि है। मैसूर के समान कुल्लू क्षेत्र के सभी देवी-देवताओं को दशहरे पर एक स्थान पर एकत्र होने का अवसर मिलता है। देवताओं का यह उत्सव अक्टूबर में दशहरा के दिन आरंभ होता है और पांच दिन बाद पूर्णिमा के दिन यह उत्कर्ष पर पहुंचता है। यह मेला प्रतिवर्ष कुल्लू नगर के ढालपुर स्थान पर जुटता है।

पुराने दिनों में जब कुल्लू पर राजा का राज था, सब देवी-देवताओं के लिये मेले में सम्मिलित होना परमावश्यक था और लगभग ३६० से भी अधिक देवी-देवता एकत्र होते थे। १९४७ तक २०० तक की संख्या में पूज्य देव पधारते थे। परन्तु जमींदारी समाप्त होने के कारण देवताओं की जमीन भी छिन गई और उसके सेवक भी कम हो गए और फलत: अब बहुत कम देवी-देवता मेले पर आते हैं। सरकार और जनता के सहयोग से मेले को आर्कषक बनाने के लिए भरसक प्रयत्न किये जाते हैं।

दशहरा से कई दिन पूर्व तैयारियां आरम्भ हो जाती हैं, कई देवी-देवता बहुत दूर के ग्रामों से आते हैं। इनमें से कुछ तो १०० मील से भी अधिक दूरी से आते हैं और कई दिन पूर्व अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देते हैं। विज्ञान और परिवहन के इस युग में भी देवी-देवता बस या मोटर-यात्रा अपवित्र कार्य समझते हैं। इसीलिए सभी देवी-देवता अपने श्रद्धालु के कंधों पर पैदल यात्रा करते हैं। दशहरे के दिन ढालपुर मैदान सब दिशाओं से आ रहे देवी-देवताओं और जन-समूह और स्थानीय लोक-वाद्यों की धूम से गूंज उठता है। कुल्लू पहुंचकर प्रत्येक देवी-देवता सबसे पहले भगवान रघुनाथ के मन्दिर पर प्रधान देवता को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

दशहरा उत्सव की प्रथम सांझ को रघुनाथ की स्वर्णिम प्रतिमा मंदिर से एक विशाल जलूस में रथ में चढ़ाकर बाहर निकाली जाती है। यह रथ लकड़ी का बना एक विशालकाय होता है जिसे खींचने के लिए सैकड़ों व्यक्तियों के हाथ जुट जाते हैं। 'जय रघुनाथ' के नारों से आकाश गूंज उठता है। इस जलूस की

अगवानी रघुनाथ के साथ-साथ राजा के वर्तमान वंशज, मंत्रीगण एवं अधिकारी करते हैं। सब देवी-देवता इस जलूस की शोभा बढ़ाते हैं। पांच दिन तक रघुनाथ की सवारी इसी मैदान में ठहरती है और अन्य देवी-देवता अपने निश्चित स्थान पर विराजमान होते हैं। मेला के अन्तिम दिन सभी देवी-देवता रावण की लंका जलाने के लिए विशेष तैयारी करते हैं। शाम को सब देवी-देवता भगवान रघुनाथ के रथ के समीप एकत्र होते हैं और रघुनाथ के पुजारी के संकेत पर जलूस व्यास नदी के तट पर कांटों और झाड़ियों से बनी लंका पर आक्रमण कर उसे जलाते हैं। विजय-उपलब्धि में विशेष पूजा भी होती है। रथ वापस खींचा जाता है। धीरे-धीरे देवी-देवता भी निज स्थानों की ओर प्रस्थान करते हैं।

इसी प्रकार बिलासपुर के अनेक मेलों में नयना देवी, मारकण्डेय और नलवाड़ मेले उल्लेखनीय हैं। नयना देवी बिलासपुर के दक्षिण-पश्चिम में समुद्र-तल से ४,००० फीट ऊंची त्रिकोण पहाड़ी पर स्थित है। यहां से एक ओर गोविन्द सागर और दूसरी ओर आनन्दपुर साहब का अनुपम दृश्य नजर आता है।

नयना देवी प्रसिद्ध ऐतिहासिक मन्दिर में दूर-दूर से लाखों लोग दर्शनार्थ और मनोकामना की पूर्ति के लिये वर्षभर आते रहते हैं। परन्तु अगस्त मास में श्रावण अष्टमी के दिन और नवरात्री पूजा के अवसर पर इस स्थान पर एक लाख से भी अधिक लोग नयना देवी की चहल-पहल बढ़ाते हैं। सब ओर मेले का अनुपम वातावरण और धूम-धाम दीखती है। भक्तों के साथ-साथ दर्शकों की भी कमी नहीं होती।

इसी प्रकार बन्दला पहाड़ की ओट में, दावीं की घाटी में गसोड़ गांव के दूसरी ओर ऋषि मारकण्डेय का पवित्र स्थान है। समीप ही भगवान राम और कैलाशपति शिव के मन्दिर हैं। कहते हैं कि एक बार ऋषि मारकण्डेय ने इसी स्थान पर पुत्र-प्राप्ति के लिए तपस्या की थी, जो फलीभूत भी हुई। इसीलिए लोग आज तक यहां पुत्र प्राप्ति की मनोकामना लेकर आते हैं।

मेला मारकण्डेय वैशाखी के दिन जुड़ता है। चारों ओर दुकानें सजती हैं। स्थानीय जनता के अतिरिक्त कांगड़ा, मण्डी, कुल्लू और शिमला से भी लोग सम्मिलित होते हैं। पंजाब और हरियाणा से लोग आते हैं। रात को सर्दी होते हुए भी, वहां की घाटी रोशनी से जगमगा उठती है। दो दिन तक खूब धूम रहती है।

भूण्डा यज्ञ पश्चिमी हिमालय के कुछ स्थानों में अब तक होता था। कहते हैं आरम्भ में यह उत्सव केवल पांच स्थानों — काओममेल सुकेत में, निरमंड कुल्लू में व नगर और निरत बुशहर तक सीमित था, परन्तु बाद में बहुत से स्थानों तक फैला। यहाँ तक कि ब्रिटिश सरकार ने १८६० में इस प्रथा की समाप्ति की आज्ञा भी दे दी थी फिर भी गुप्त रूप से यह उत्सव हर बारह वर्ष बाद कुछ

स्थानों पर होता रहा।

निश्चित तिथि से तीन महीने पहले बेड़ा जाति के एक मनुष्य को भूण्डा के लिए चुना जाता था। तीन महीने तक मन्दिर के खर्च पर उसे और उसके परिवार को बड़े आराम और सम्मान से रखा जाता था। इसी समय में वह ४०० से ५०० हाथ लम्बा मुंजी घास का रस्सा बना लेता था। भूण्डा के दिन दूर और समीप के ग्रामीण अपने देवी-देवताओं को लेकर गाजे-बाजे सहित भूण्डा स्थान पर पहुंच जाते थे। बेड़े को साथ लेकर एक जलूस चलता था। बेड़ा के तन पर एक केसरिया कपड़ा और लाल सूत होता था। उसके हाथ में नीले सूती कपड़े का छत्ता देकर वह सपरिवार जलूस में चलता था। आरम्भ में एक बकरे की बलि दी जाती थी। जब जलूस भूण्डा स्थान पर पहुंचता, तब तैयार की गई रस्सी का सिरा पहाड़ के ऊपर एक खम्बे में बांध दिया जाता था और दूसरा पहाड़ की तलहटी में गाढ़े गये खम्भे में। फिर बेड़ा को मन्दिर में ले जाकर देवता के अर्पित कर दिया जाता था। इसके बाद बेड़ा एक जलूस की शक्ल में पहाड़ की चोटी पर पहुंचता था। उसके परिवार के लोग और हज़ारों की संख्या में नर-नारी नीचे खड़े रहते थे। रस्से के ऊपर एक त्रिकोण लकड़ी का आसन रखकर उसमें बेड़ा बैठ जाता। बोझ को संभाल रखने के लिए त्रिकोण लकड़ी को दोनों ओर बालू भरे थैले बेड़ा के पैरों से लटके रहते। पुरोहित के संकेत पर बेड़ा को रस्से के आसन पर नीचे छोड़ दिया जाता था। उसकी मृत्यु या जीवन विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करता था। यदि वह बच गया तो उसे कुछ पैसा मन्दिर के कोष से और कुछ पैसा दर्शक लोग भी देते थे। कई बार बेड़े बच जाते थे पर कई अंधविश्वासी और रूढ़िवादी लोग बेड़े के बचने को सम्बन्धित रियासत और जनता के लिए दुर्भाग्य का सूचक समझते थे। इसलिए ऐसे लोग बेड़े को बीच में गिराने के लिए गुप्त रूप से प्रयत्न करते थे। अन्तिम भूण्डा १८६२ में दिया गया था; जिसमें मनुष्य के स्थान पर एक बकरा चढ़ाया गया। अब भूण्डा देने वाले लोगों में इतनी जागृति आ गई है कि वह इस बलि को उचित नहीं समझते और अब यह उत्सव केवल इतिहास का भाग बन गया है।

बिलासपुर का नलवाड़ मेला प्रतिवर्ष विक्रमी ४ चैत्र तक चलता है। इस मेले में मवेशी बेचे और खरीदे जाते हैं। नलवाड़ का मतलब भी मवेशी व्यापार ही है। यह मेला बिलासपुर में आज से कुछ वर्ष पूर्व आरम्भ किया गया था। पहले यह मेला बिलासपुर के प्रसिद्ध मैदान साण्डू में मनाया जाता था जो अब गोविन्द सागर में जलमग्न हो गया। अब यह मेला लुहनु मैदान में जुड़ता। है प्रतिवर्ष २,००० के लगभग व्यापारी १०,००० से अधिक बैल लाते थे, परन्तु अब यह संख्या कुछ कम भी होने लग गई है। मेले का विधिवत् उद्घाटन

समारोह होता है और मेले के अन्तिम दिन श्रेष्ठ पशुओं के लिए पुरस्कार-वितरण समारोह भी होता है। मेले के पहले चार दिन केवल पशुओं की बिक्री और खरीद होती है, शेष चार दिनों में मेले के अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम भी चलते रहते हैं। सब प्रकार की दुकानें सजती हैं। मेले के सारे खेल-तमाशों का आनन्द मिलता है।

नलवाड़ के ऐसे ही मेले हिमाचल के अन्य स्थानों, जैसे नालागढ़, जगतखना, सुन्दर नगर, भंगरोट्, बरछवाड़, कांगरू में जुड़ते हैं। इस मेले में पंजाब, हरियाणा और हिमाचल के हर जिलों से व्यापारी और मेले के शौकीन आते हैं।

इसके अतिरिक्त बिलासपुर में बसंत पंचमी, होला, काली देवी, झण्डा, गुग्गा चमल्यों, गुग्गा, भटेर, गुग्गा घेरवीं इत्यादि अनेक मेले भी जुड़ते हैं।

कांगड़े में चैत्र संक्रांति से वैसाखी तक खेल, रली वस्तुतः शिव-पार्वती विवाह का एक आकर्षक उत्सव है।

भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष की नवमी गुग्गा नवमी के नाम से प्रसिद्ध है। इस दिन बिलासपुर, मंडी और विशेषकर कांगड़ा में लोक-देवता गुग्गा जाहर-पीर की मढ़ी पर एकत्र होकर लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुग्गा-पूजन करते हैं। जगह-जगह मेले लगते हैं और हजारों लोग मेलों की रंगीनियों को चार चांद लगाते हैं। गुग्गा हिमाचल में चम्बा की भटयात तहसील, जिला कांगड़ा, मंडी का निचला भाग, बिलासपुर, नालागढ़, अरकी और कहीं-कहीं सिरमौर के क्षेत्र में एक मान्यताप्राप्त लोक-देवता हैं। इन सब जगहों पर गुग्गा नवमी के दिन विशेष उत्सव होते हैं।

तहसील देहरा में गरली ग्राम से १५ किलोमीटर की दूरी पर कालीश्वर महादेव के मन्दिर के समीप मकर संक्रांति और बैशाखी के दिन हर वर्ष व्यासा के दोनों ओर बड़ा भारी मेला लगता है। दूर-दूर से लोग इस मेले में स्नानार्थ आते हैं। हजारों लड़कियों की टोलियां गाती हुई रली तथा रलु को यहां व्यासा के तट पर खड़े होकर जल में प्रवाहित करते हैं।

ज्वालामुखी देवी मन्दिर और भगवती बज्रेश्वरी मन्दिर के सामने वर्ष में दो बार विशेष उत्सवों का आयोजन होता है, जिनमें लाखों भक्त और मेले के शौकीन लोग हिमाचल ही नहीं देश के अन्य भागों से आते हैं। प्रत्येक त्यौहार में लोक-गीत एवं लोक-नृत्यों का प्रमुख स्थान रहता है।

हिमाचल के त्यौहार और मेले यहां के लोक-जीवन में सामूहिक आनन्द-भावना का संचार करने वाले महान् प्रेरणा-स्रोत हैं। लोक-गीत, लोक-नृत्य, लोकाभिनय का पूरा प्रदर्शन इन लोकोत्सव में प्राप्त होता है, जो लोक-जीवन का वास्तविक सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व करते हैं।

भाषा, साहित्य एवं कला की प्रगति

यानि अस्माकं सुचरितानि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि ।

—उपनिषद्

भारत स्वतन्त्रता और १५ अप्रैल, १९४८ में हिमाचल प्रदेश की स्थापना के बाद सांस्कृतिक पुनरुत्थान की जो विशाल लहर इस पहाड़ी प्रदेश में उठी उसने पहाड़ी संस्कृति के सभी पक्षों और कला के अनेक रूपों को आप्लावित कर उनको उजागर कर दिया। इस काल में सृजनात्मक क्रियाकलाप का जैसा विस्तार हुआ और जो उपलब्धियां हुईं, वे अभूतपूर्व हैं। बुद्धिजीवियों की सृजनात्मक चेतना की नई सामाजिक परिस्थितियों से जो सहज स्फुरण मिला उसके अतिरिक्त सरकार ने भी आर्थिक विकास की अनेक योजनाओं के साथ-साथ कलाओं को प्रोत्साहन और सांस्कृतिक विकास का दायित्व भी अपने ऊपर लिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए २९ मार्च, १९६८ को हिमाचल प्रदेश भाषा संस्थान की स्थापना हुई। इस सांस्कृतिक जागरण की अगली कड़ी के रूप में प्रदेश की भाषा, साहित्य एवं कला एकादमी, हिमाचल प्रदेश विधान सभा से एक विशेष प्रस्ताव द्वारा स्थापना हुई। भाषा संस्थान और एकादमी ने जहां संस्कृत, हिन्दी और उर्दू जैसी भाषाओं के विकास के लिए, प्रयत्न किए वहां लोकभाषा (पहाड़ी) को भरसक प्रोत्साहन देने की दिशा में भी प्रशंसनीय कार्य किया। हजारों वर्षों से रौंदी हुई, विस्मृत-अपेक्षित, पुरानी पहाड़ी संस्कृति और आत्मा को न केवल दृढ़ता से स्मरण करना परमावश्यक है वरन् उसके अनुकूल व्यावहारिक शक्ति का निःसंकोच प्रयोग भी जरूरी है। कोटि-कोटि हिमाचलवासियों के कंठों ने इस नई लहर, नई शक्ति का अभिवादन किया। यही नहीं जब हिमाचल प्रदेश २६ जनवरी, १९७१ से पूर्ण राज्यत्व प्राप्त कर एक नए रूप में देश के मान-चित्र पर उभरा तब इस पहाड़ी प्रदेश के चिन्तन को नया आयाम मिला, नई दिशा मिली।

चिन्तन के इस नए आयाम और नई दिशा के मोड़ से हम भाषा, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में विकास पर दृष्टिपात करने के लिये केवल एक सही

परिप्रेक्ष्य पाते हैं, वरन् विकास की सम्भावनाओं की उचित दिशा का बोध पाने का प्रयत्न भी कर सकते हैं।

१५ अप्रैल, १९४८ के दिन जब हिमाचल प्रदेश की ३० रियासतों को एक सूत्र में पिरोया गया, उस समय शायद कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि ये सब छोटी-छोटी रियासतें, जो जुगनू की भांति चमकने का नाटक कर रही थीं, किसी दिन एक सूत्र में पिरोयी जाकर एक मशाल बन जायेंगी। और एक लोकभाषा, संस्कृति और कला के माध्यम से पहाड़ी संस्कृति की आत्माभिव्यक्ति की दिशा में अग्रसर होंगी।

आरम्भ में प्रत्येक क्षेत्र की श्रेष्ठ लोक नर्तक मंडली के प्रतिवर्ष १५ अप्रैल को हिमाचल दिवस पर आमन्त्रित करने की परम्परा तथा इसी प्रकार गणतन्त्र दिवस पर हिमाचल का एक श्रेष्ठ लोकनर्तक दल प्रतिवर्ष दिल्ली जाने लगा। धीरे-धीरे हिमाचल के लोक-गीतों, लोक-नृत्यों की लोकप्रियता प्रदेश से बाहर भी बढ़ने लगी। हिमाचल के सभी प्रमुख मेलों एवं उत्सवों पर इनको प्राथमिकता मिलने लगी।

१९५५ में शिमला में आकाशवाणी की स्थापना के फलस्वरूप लोक-गीतों का स्थानीय उपभाषाओं में पहली बार कार्यक्रम प्रस्तुत होने लगा। इस ओर आकाशवाणी शिमला के तत्कालीन अधिकारी और देश के उच्च कोटि के कलाकार श्रीयुत एस० एस० एस० ठाकुर ने सराहनीय कार्य किया। उन्होंने पहाड़ी भाषा और लोक-गीतों की ओर तब ध्यान दिया जब बहुत सारे लोग इसे पिछड़ेपन की निशानी समझते थे। आकाशवाणी शिमला में हिमाचलीय लोक-वार्ता को प्रोत्साहन देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है और भविष्य में इस कार्यक्रम के विस्तार की आशा है।

अप्रैल, १९५५ में लोक सम्पर्क विभाग द्वारा एक हिन्दी मासिक पत्रिका 'हिमप्रस्थ' का प्रारम्भ भी प्रदेश के साहित्यिक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना थी।

१९६८ में त्रैमासिक पहाड़ी पत्रिका 'हिमभारती' और उसके बाद 'सोमसी' श्रीयुत हरिश्चन्द्र पाराशर के सम्पादन और ठाकुर मौलूराम, अमरनाथ शर्मा, डॉ० बंसीराम शर्मा के सहयोग से भाषा संस्थान एवं एकादमी के तत्वावधान में उदय हुई। इस पत्रिका का मूल उद्देश्य पहाड़ी भाषा, कला और संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित करना तथा अनेक पहाड़ी लेखकों को प्रोत्साहन देना है। पिछले वर्षों में हिमभारती के माध्यम से भी पहाड़ी में लिखने वाले अनेक कवि, कहानीकार, निबन्धकार और नाटककार पहाड़ी साहित्य जगत् पर उभरे हैं। पर यह समय ही बता सकेगा कि इनमें से कौन अपने ध्येय के प्रति सच्ची आस्था, लगन और प्रतिभा की कसौटी पर पूरा उतरेगा। कुछ कविताओं या लेख

प्रकाशित कर या सम्मेलनों में सुनाकर कोई सच्चा साहित्यकार नहीं बन पाता। उसके लिए तो समय ही सबसे बड़ा पारखी है।

इधर पिछले दशक में अनगिनत पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई है। लेकिन ऐसा लगता है कि इनमें से अधिकतर सरकारी विज्ञापन बटोरने तक ही सीमित हैं। किसी विचारधारा, भाषा कला एवं साहित्य-पक्ष को लेकर प्रकाशित नहीं हो रही हैं। राजनीतिक पत्रों का जिक्र मैं यहां नहीं करूंगा। अच्छी पत्रिकायें गिनी-चुनी हैं। इनमें से कुछ पत्रिकाओं का पहाड़ी भाषा, संस्कृति और कला के प्रोत्साहन में विशेष योगदान रहा है।

यद्यपि इन सबमें श्रेष्ठ और उत्कृष्ठ पत्रिकायें बहुत कम हैं। तथापि यह रुझान भविष्य के लिए नयी संभावनाओं के प्रति आशा जगाता है। जिस निष्ठा और ईमानदारी के आचरण की अपेक्षा लेखक, सम्पादक, प्रकाशक और पाठक से की जाती है, उसमें अभी भी वृद्धि की आवश्यकता है। हिमाचल के कला-क्षेत्रों में श्री किशोरीलाल वैद्य और ओम्चन्द हांडा की पुस्तक पहाड़ी चित्रकला और पहाड़ी लोक-कला, पहाड़ी क्षेत्र के कला-जगत् में एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जानी चाहिए।

अभी तक हिमाचल के जनपदीय साहित्य की ओर बहुत कम लेखकों का ध्यान है।

इस दिशा में डॉ० पदमचन्द्र कश्यप का कुल्लवी गीतों पर शोध-प्रबन्ध, डॉ० बंसीराम शर्मा का किन्नौरी लोक-साहित्य पर शोध प्रबन्ध, डॉ० एम० एस० रन्धावा का कांगड़ी लोक-गीत संग्रह, श्री मौलूराम द्वारा सम्पादित 'लामणे' संग्रह तथा हिमाचल के लोक-सम्पर्क विभाग द्वारा प्रकाशित हिमाचल के लोक-गीत प्रशंसनीय संग्रह हैं। इसी विषय पर श्री एस० एस० एस० ठाकुर का हिमाचली लोक-गीत संग्रह, हिमाचल लोक लहरी एक प्रशंसनीय प्रयोग है। लोकगीतों की स्वर लिपि प्रत्येक लोक-गीत के साथ देकर लेखक ने महत्त्व-पूर्ण कृति प्रस्तुत की है।

पहाड़ी कविता में श्रीयुत पीयूष गुलेरी की रचना 'मेरा देश महाचल' गौतम व्यथित के संग्रह 'चेते' और 'पहाड़ां दे अत्थरू' पहाड़ी कविता साहित्य में उत्तम रचनायें कही जायेंगी। डॉ० व्यथित द्वारा सम्पादित अन्य संग्रह हैं, 'मिंजरा' (कांगड़ी कवितायें), कांगड़ी लोक-कथायें इत्यादि। जहां पहाड़ों की मुख्य धारा कांगड़ी में निःसन्देह उत्साहजनक प्रगति हुई है, वहां मंडियाली, कुल्लुवी, कहलूरी, महासुवी और सिरमौरी उपभाषाओं की प्रगति कुछ धीमी है। इस अवरोध का एक कारण इन उपभाषाओं के साहित्यकारों की इस दिशा में अरुचि भी हो सकती है। फिर भी महासुई में प्रकाशित काहनसिंह जमाल का पहाड़ी कविता संग्रह 'गिरी गांगे री धारों', श्री सी० आर० बी० ललित का 'जुहणे रे आशू',

'सिरमौर में विद्यानन्द सरैइक का कविता संग्रह 'चिट्टी चादर', श्री देशराज शर्मा की रचना 'गुग्गा जाहर पीर' और 'पहाड़ी भाषा' पर ठाकुर मोलूराम की रचना उल्लेखनीय है।

हिमाचल सम्बन्धी लोक-कथा संग्रहों में मुख्यतः चार संग्रह सन्तराम वत्स, श्री व्यथित, देशराज शर्मा और किशोरीलाल वैद्य द्वारा संग्रहीत हिमाचल की लोककथा अच्छा प्रयत्न है।

इसी संदर्भ में श्री यशपाल का 'मनुष्य के रूप', भ० र० कपूर द्वारा रचित 'अटूट सिलसिले', 'एक अदद औरत', 'नीरू और हीरू', श्री शांताकुमार का उपन्यास 'मन के मीत', किशोरीलाल वैद्य, डॉ० फुल्ल द्वारा सम्पादित 'एक कथा-परिवेश' और 'हिन्दी कहानी संग्रह'। आधुनिक कहानी कला की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण रचनायें हैं। श्री हरदयाल सिंह का उपन्यास 'सामाजिक कारा के बंदी', श्री मनसाराम का उपन्यास 'देवांगना' और श्री एवं श्रीमती शांताकुमार का कहानी-संग्रह 'पहाड़ बेगाने नहीं होंगे' हिमाचल की लोककथायें उल्लेखनीय रचनायें हैं।

नाटक-क्षेत्र में नरेन्द्र अरुण का पहाड़ी नाटक ,लद्दाख किनारे', रामकृष्ण कौशल का 'तीन आयाम', श्री सुमन का 'गल्लां होई बीतियां' तथा हरिराम जसटा का सांस्कृतिक नाटक 'रामानुज भरत' के नाम उल्लेखनीय हैं।

भाषा विभाग द्वारा प्रकाशित निबन्ध, कहानी, नाटक और कविता-संग्रह भी हिन्दी औरं पहाड़ी साहित्य-क्षेत्र में अपने ढंग के अनूठे संग्रह हैं। पहाड़ी भाषा के संग्रह की बात चली है तो हिमाचल के लोक सम्पर्क विभाग द्वारा प्रकाशित श्री रामदयाल नीरज द्वारा सम्पादित 'हिमाचली लोकगाथायें' निःसन्देह महत्त्व-पूर्ण दिशा-सूचक रचना है।

निबन्ध साहित्य में श्रीयुत लालचन्द प्रार्थी द्वारा रचित 'कलूत देश की कहानी', शम्मी शर्मा की 'पार्वती', और हरीराम जसटा की रचना 'हिमाचल गौरव', पहाड़ी लोक-जीवन, लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति पर संग्रहणीय ग्रन्थ है। अंग्रेजी में सुखदेव सिंह चिब, डॉ० ओहरी और किशोरीलाल वैद्य की हिमाचल प्रदेश सम्बन्धी रचनाओं का अपना स्थान है।

पहाड़ी भाषा

हिमाचल प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाली ६५ प्रतिशत जनता की मातृभाषा पहाड़ी है। पहाड़ी भाषा का हिमाचली लोक-जीवन में वही स्थान है जो पंजाब में पंजाबी का, उत्तर प्रदेश में अवधी और व्रजभाषा और सबसे बढ़कर जो शरीर में आत्मा का स्थान है। पहाड़ी भाषा की प्रमुख मान्यता प्राप्त उपभाषायें निम्नलिखित हैं:

(१) **मंडीयाली**—वर्तमान मंडी जिला में बोली जाती है। इस भाषा के लोक-साहित्य पर डॉ० नरेन्द्रनाथ ऊखल, एवं डॉ० काशीराम ने अनुसंधान किया है।

(२) **चम्बयाली**—जिला चम्बा की प्रमुख लोक-भाषा है। इस भाषा के लोक-वार्त्ता पक्ष पर श्री सुमन और खेमचन्द्र गुप्त ने लेख प्रकाशित किये हैं।

(३) **कांगड़ी**—वर्तमान जिला कांगड़ा, हमीरपुर और ऊना की लोक-भाषा है। इसके लोक-साहित्य पर डॉ० व्यथित, श्री श्यामलाल डोगरा ने अनुसंधान किया है।

(४) **सिरमौरी**—वर्तमान जिला सिरमौर की लोक-भाषा है। सिरमौरी लोक-साहित्य पर डॉ० खुशीराम गौतम ने अनुसंधान किया है।

(५) **महासू**—वर्तमान जिला शिमला (पहले महासू) और सोलन की लोक-भाषा है। इस उपभाषा पर हरीराम जसटा के अनुसंधानात्मक लेख हिमाचल प्रदेश के भाषा विभाग एवं एकादमी ने प्रकाशित किये हैं। उनकी एक पुस्तक 'हिमाचल गौरव' भी इस विषय पर प्रकाशित हुई है।

(६) **कुल्लुवी**—यह वर्तमान कुल्लू की उपभाषा है। इस उपभाषा पर डॉ० पद्मचन्द्र कश्यप और श्री मोलूराम ठाकुर ने अनुसंधानात्मक पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

(७) **किन्नौरी**—जिला किन्नौर की लोक-भाषा है। लोक-साहित्य पर डॉ० बंशीराम ने अनुसंधान किया है।

(८) **लाहौली और स्पिति**—दोनों लाहौल स्पिति की लोक-भाषायें हैं।

उपर्युक्त लोक-भाषाओं को पहाड़ी के सन्दर्भ में उपभाषा का स्थान दिया गया है और इसकी अनेक बोलियां और उपबोलियां भी हैं जिनके नाम ब्रिटिश काल में स्थानीय रियासतों के नामों के साथ जोड़ दिये गये थे। परन्तु अब उन नामों की अधिक सार्थकता और महत्त्व नहीं रह गया है क्योंकि वे अवैज्ञानिक और निराधार थे। इसलिए इन आठ उपभाषाओं को ही पहाड़ी भाषा का प्रमुख रूप समझा जाना चाहिए।

अब पहाड़ी हिमाचली, देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। लोककविता, लोक-गीतों, कथागीतों, लोक-कथाओं के रूप में यह पहाड़ी युगों के थपेड़े झेलती हुई वर्तमान रूप धारण कर रही है। पहाड़ी पर संस्कृत और हिन्दी का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। पहाड़ी और हिन्दी का परस्पर कोई विरोध नहीं। स्वतन्त्रता के बाद पहाड़ी भाषा की अनेक बोलियों को परस्पर निकट आने का सुनहरी मौका मिला है और इसमें जनता के साथ-साथ सरकार ने भी पहाड़ी भाषा के संरक्षण के लिए प्रचुर योगदान दिया है। अभी तक पहाड़ी भाषा और लोक-साहित्य पर दो सौ से भी अधिक पुस्तकें पहाड़ी, हिन्दी और अंग्रेज़ी में प्रकाशित हो चुकी

हैं। इस दिशा में अनुसंधानकर्ता, लोक-वार्ता-प्रेमियों एंव लोक-साहित्य के मर्मज्ञों को खोज करने के लिए विशाल क्षेत्र अछूता पड़ा है। लोकवार्ता के अनेक पक्ष अभी तक अछूते पड़े हैं। यहाँ की समृद्ध लोक-संस्कृति, लोक-कथा और लोक-जीवन पर अभी तक बहुत कम लिखा गया है।

कोई भी भाषा, कला एवं संस्कृति केवल राजकीय आश्रय पर प्रोत्साहन से जीवित या विकसित नहीं होती, जब तक जन-मानस, बुद्धिजीवी और कलाकार लोक-जीवन में इनका महत्त्व समझते हुए सक्रिय सहयोग एवं नेतृत्व प्रदान करने के लिये आगे नहीं आते।

अतीत में कला, संस्कृति और साहित्य की विभिन्न परिस्थितियों में विविध रूप धारण करते हुए, समयानुसार उन्नति की ओर अग्रसर होते चले आ रही हैं; निश्चय-पूर्वक यह कहना कठिन है किस क्षेत्र में सबसे अधिक सफलता मिलेगी। रचना कोई भी हो, कलाकृति कोई भी हो, नवीन होने के कारण कुछ काल तक जनरुचि को आकर्षित करने वाली बन जाती है। परन्तु साहित्य एवं कला के महत्त्व पर हरेक का स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता। नाम और शब्दों का हेर-फेर तो बाह्य रूप में जो सदा परिवर्तनशील होने के कारण अस्थाई है। स्थाई होने वाला तो आभ्यान्तरिक तत्त्व है जो साहित्य और कला को चिरस्थाई बनाता है। यह शाश्वत तत्त्व है, जीवन की परख जो कलाकार बाह्य आडम्बर के आवरणों के भेद अर्न्तानिहित जीवन सत्य का सन्धान करने में समर्थ होता है, उसकी कृतियां अमरत्वं प्राप्त कर जाती हैं। जिस कृति में जिसकी दृष्टि जितनी ही व्यापक और तीक्ष्ण होगी वह कलाकृति या साहित्य उतना ही चिरजीवी बनेगा। मेरे यह विनम्र विचार कहां तक हिमाचल के बुद्धिजीवियों के परीक्षण और मनन की अपेक्षा रखते हैं, यह भविष्य ही बता सकेगा।

हिमाचल-लोक-नृत्य-परम्परा

शाली बाजारो दी चिकनी माटी,
बैठी जा भौंहिन्दी शुणि लै नाटी।

—लोकगीत

व्यक्ति या समूह का अपने देश से सम्बन्ध कुछ ऐसा होता है जैसा उसका अपनेपन तथा अपने माता-पिता से। जिसकी गोद में बैठकर व्यक्ति या व्यक्ति-समूह विकसित होता है। उससे उसका सहज स्नेह हो जाना स्वाभाविक है। इस प्रसंग में आदि कवि बाल्मीकि की यह पंक्ति सार्थक है—'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी',—अपनी मां, अपने जन्म-ग्राम, अपने घर और अपने पड़ौस के माध्यम से ही हम अपने प्रदेश या देश को पहचान सकते हैं। उनके प्रति प्यार से ही हम देश-भक्ति की ओर अग्रसर होते हैं। हम अपने निकटस्थ वातावरण से ही समूचे क्षेत्र या देश के भूगोल, इतिहास, कला और लोक-जीवन के प्रति रुचि-शील हो जाते हैं। अपने क्षेत्र के विगत, उसकी श्रेष्ठ परम्पराओं उसके उज्ज्वल और उत्कृष्ट सांस्कृतिक पक्षों और उसकी जीवन-विधि एवं रीति-नीति की जान-कारी देशभक्ति का संवर्धन होता है।

आज भी जिस देश में कला का लोक-जीवन से गहरा सम्पर्क बना हुआ है वहां के लोक-नृत्य एवं लोक-गीत वहां की संस्कृति के सच्चे प्रतीक हैं। यही लोक-नृत्य जब लोक-जीवन के सम्पर्क को खो बैठते हैं और उनका लोकरंजनात्मक गुण कम होने लगता है तो वे कुछ ही लोगों की सम्पत्ति बन जाते हैं। भारत के प्रसिद्ध लोक-साहित्यकार एवं लोक-कलाकारों के निर्देशक देवीलाल सामर के शब्दों में—"उनमें धीरे-धीरे शास्त्रीयत्व का समावेश होने लगता है और वे एक विशेष कलात्मक रूप धारण कर लेते हैं। प्रत्येक देशकी शास्त्रीय कलाओं का यही इतिहास है। जिस प्रकार भाषा अपना प्रारम्भिक और लौकिक रूप खोकर कुछ ही पंडितों और आचार्यों के प्रयत्नों से क्लिष्ट और साहित्यिक बन जाती है, उसी प्रकार लोक-नृत्य भी कुछ विशेषज्ञों के प्रयास से शास्त्रीय नृत्यों का रूप धारण कर लेते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक शास्त्रीय कला की जननी लोककला

है अत: यदि हमें अपनी लोक-संस्कृति को जीवित रखना है तो इन लोक-कलाओं को जीवित रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनमें जनता के प्राणों का सच्चा स्पन्दन है।

हिमाचल प्रदेश जैसे दुगर्म पहाड़ी क्षेत्र में जहां जीवनोपार्जन अत्यन्त कठिन है। लोक-रंजन के साधन सरलता से उपलब्ध नहीं, लोक-कलाओं के अनेक रूप अभी तक मूल रंगीन, सम्पन्न और समृद्ध रूप में विद्यमान हैं। हिमाचल प्रदेश के सभी लोक-नृत्य व्यावसायिक नृत्य न होकर जातीय नृत्य हैं। इसलिए इनमें लौकिक और सांस्कृतिक पक्ष अधिक है। इनमें आज भी यहां के पवर्तीय जीवन की आत्मा का निवास है।

यहां के लोक-जीवन की सादगी, आनन्दानूभूति, तल्लीनता, तन्मयता, दक्ष शारीरिक अभ्यास का अपूर्व परिचय मिलता है। जयशंकर प्रसाद ने एक जगह भारतीय कृषक का सजीव चित्र इन पंक्तियों में खींचा था—

कठिन जेठ की दोपहरी में तप्त धूलि में सन।
कृषक तपस्वी तप करते हैं तप से स्वेदित तन॥

हिमाचल-वासियों का ग्राम्य-जीवन भी इतना ही कठिन, कठोर और रुक्ष है। फिर भी यहां के परिश्रमी पहाड़ी लोग अपने सुमधुर लोक-गीतों और लोक-नृत्यों द्वारा मुरझाये हुए प्राण-स्रोत को हिमालय की गोद में अटखेलियां करती हुई पावन गंगा मैया की धारा-समान उल्लासमय और नन्दनवन के कल्प-वृक्ष की तरह सब ओर सुख और आनन्द बिखेरते हैं।

हिमाचल प्रदेश में अतीत गौरव के प्रतीक लोक-नृत्य किसी ग्राम्य-उत्सव के समय प्राय: अपने पुरानेपन में भी सौदर्य को समोये मानव मन को आनन्दित एवं आर्काषित किये रहते हैं। उनका मूल उद्देश्य सामूहिक मनोरंजन है और लोक-मंगल की भावना है। लोक-नृत्यों का मूल स्रोत हमारी लोक-संस्कृति है, जिसे स्थान और काल की दूरी भी छिन्न-भिन्न नहीं कर सकती। इस पहाड़ी प्रदेश के लोक-नृत्य की अन्तरात्मा में मानव की सौदर्य-बोधि चेतना, पर्वतीय लोक-जीवन के ह्लास और रुदन की स्वस्थ कला परम्परा, जन मन की उमंगें, प्रकृति का रंग वैभव, यहां का ग्राम-जीवन-संघर्ष और श्रम और मन की बंधन मुक्त उड़ान प्रतिबिम्बित होती है।

प्रकृति समान सरल हिमाचल के युवक और युवतियां बाल्यकाल से ही जैसा वह वृद्धों को करते देखते हैं उसी परिपाटी को अपने स्वभाव में सम्मिलित कर लेते हैं। इसी तरह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हिमाचल के लोक-नृत्य आगे बढ़ते रहे हैं और उनमें समय-समय पर परिवर्तन, संशोधन और रोचकता का विकास होता रहा है। चूंकि हिमाचल के लोक-नृत्य किसी विशेष शास्त्रीय नियम से बंधे हुए नहीं हैं, इसलिए वे अत्यन्त सरल, सरस और हृदयग्राही हैं।

पर फिर भी उनकी विशिष्ट परम्परा है। इन लोक-नृत्यों में, पर्वतीय लोक-जीवन के उद्‌गम, स्वभाव, गति की तीव्रता, अंग-संचालन में एक आकस्मिकता, कठोर मुद्रा, छोटे-छोटे आवेश-पूर्ण नृत्य-खंडों का रूप अपने में पहाड़ी जीवन की प्राकृतिक शोभा, धार्मिक, सामाजिक तथा अनेक रूढ़िवादी संस्कारों और विश्वासों की सुन्दर झलक मिलती है। हिमाचल के अधिकांश लोक-नृत्य सामूहिक उल्लास, सुख-दुख के भावपूर्ण क्षण और सामाजिक अवसरों से ही सम्बन्धित हैं। चाहे कोई लोक-नृत्य ऋतु-उत्सव के सम्बन्ध में हो या धार्मिक और सामाजिक उत्सव के रूप में, आसपास के सभी पर्वतीय ग्रामों के लोग उसमें ठाठ-बाठ के साथ सम्मिलित होते हैं। यहां के लोक-नृत्य व्यक्तिगत कला विकास के साधन मात्र नहीं।

हिमाचली लोक-नृत्यों के साथ गीत इन्हें चार चांद लगा देते हैं। निःसन्देह लोक-नृत्य और गीत का जन्म साथ-साथ संघर्ष श्रम-साधनों के अवसर पर दिखाई जाने वाली भावमयी मुद्राओं के उन चरम क्षणों में हुआ, जब जीवन का सौंदर्य जाग उठा और गीत फूट पड़े। चिरकाल से उदय और प्रयोजन के कारण, हिमाचल के लोक-नृत्य, गीत अभिन्न अंग रहे हैं और पर्वतीय सामाजिक जीवन को सचित्र, सजीव और प्रेणात्मक बनाते हुए, ये लोकनृत्य लोकगीतों से विभूषित है। इनका सरल प्रवाहमान संगीत नृत्य की चाल-लय को कला-सौष्ठव प्रदान करता है। हृदय आकाश में सप्तरंगी इन्द्रधनुष का वितान फैल जाता है, नेत्र आत्म-विभोर हो उठते हैं। मन-मोर नाच उठते हैं और मानव की सहज अभिव्यक्ति मधु और अमृत के गीत गाने लगती है। वास्तव में लोक-जीवन की प्रत्येक दिशा नृत्य से व्याप्त है।

हिमाचल प्रदेश के विभिन्न भागों में प्रायः विभिन्न लोक-नृत्य प्रचलित हैं। इसी प्रकार लोक-नृत्य के साथ गाये जाने वाले लोकगीत और वेशभूषा भी विभिन्न होते हैं। इनमें से कुछ नृत्यों में केवल स्त्रियां और कुछ में केवल पुरुष ही नाचते हैं। परन्तु ऐसे भी लोक-नृत्य है, जिनमें केवल स्त्री-पुरुष दोनों ही नाचते हैं। इनमें अधिकतर सामूहिक-नृत्य हैं, परन्तु कुछ व्यक्तिगत नृत्य भी हैं। प्रायः सभी लोक-नृत्यों के साथ नृत्य-गीत गाये जाते हैं, इन लोक-गीतों को बहुधा स्वयं नर्तक दल गाते हैं। प्रत्येक लोक-गीत के साथ वाद्य-नरसिंगा, शहनाई, ढोल, बांसुरी, करनाल, खंजरी, करताल, डमरू इत्यादि बजाए जाते हैं। यदि अन्य लोक-वाद्य न भी हों, ढोलक या खंजरी के बिना गुजारा नहीं है। ये लोक-गीत, लोक-वाद्य एवं लोक नृत्य की त्रिवेणी इस पवर्तीय प्रदेश में अनन्तकाल से प्रवाहित होती रही है।

यदि आप कभी वर्ष भर में जुड़ने वाले अनेक मेलों, उत्सवों या त्यौहारों के के समय हिमाचल के किसी ग्राम में से होकर गुजर रहे हों, तो सहसा ढोलक या

खंजरी की मधुर ध्वनि सुनकर आप स्थानीय ग्रामवासियों को गांव की किसी खुली जगह पर एकत्रित पाएंगे और लोक-नृत्य का आनन्द उठाते हुए देखेंगे। पहाड़ों के इन छोटे-छोटे ग्रामों में पहाड़ी लोक-कला की इस रसभरी समृद्ध थाती को अपने प्राचीन रूप एवं वैभव में सुरक्षित पाएंगे। इन लोक-नृत्यों की भावना भर्तृहरि लोक-गीत में कितने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत हुई है।

लागी साधु री किन्दरी लागी ऐ किन्दरी री बाई,
ग्रामां बौलो ली बुढड़ी बै, मुन्दी नाचणं री श्राई।
एकि तारौ री किन्दरी बोलौ सै नोखी-नोखी बानी,
नाचौ लहोड़लं बौड़लै साथी सं चौदोशी रानी।

इन लोक-नृत्यों के साथ गाये जाने वाले प्रत्येक नृत्य-गीत की भाषा, शैली, छन्द, धुन, लय इत्यादि में भी भिन्नता है।

शुभ अवसर, त्यौहार और अनेक सामाजिक मेल-मिलाप के हर्षोत्सवों को मनाने के लिए लोक-नृत्यों की विशेष भूमिका होती है, इसके लिए कोई पूर्व अभ्यास की आवश्यकता नहीं। क्षणिक प्रेरणा पर भी हिमाचली नाचना पसन्द करते हैं। इन परम्परागत और मनोहारी लोक-नृत्यों को देख प्रत्येक दर्शक पर इनके लय, सौन्दर्य-भावना की महानता प्रकट होती है।

जब हिमाचल में कहीं भी चलचित्रों और आधुनिक मनोरंजन के साधनों का नाम-निशान भी नहीं था, तब भी यह चित्ताकर्षक लोक-नृत्य लोक-जीवन को सरस बनाते रहे और साधारण लय, ताल और गीतों के द्वारा लोक-नृत्य और लोक-गीत पर्वत-पुत्रों के दैनिक परिश्रम और रूखे जीवन में उत्साह और रंग भरते रहे हैं। बनों, पहाड़ों, खेतों, खलिहानों और आंगन में दिनभर के कठिन कार्य के पश्चात स्त्री-पुरुष गांव के खुले स्थान पर एकत्र होकर लोक-नृत्य द्वारा अपने दैनिक जीवन की कठोरता और करुणा को भुलाते रहे हैं। यह कार्यक्रम उत्सवों को छोड़कर प्रायः सर्दियों में अधिक चलता है। परन्तु ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रसार बढ़ा और सिनेमा, रेडियो और अन्य मनोरंजन के साधन गांव-गांव में पहुंचने लगे, इस ओर से नई पीढ़ी का ध्यान धीरे-धीरे हटता जा रहा है। उन पर आधुनिकता का आवरण चढ़ता जा रहा है। लोक-जीवन की श्रेष्ठ थाती के प्रति उनकी मनोवैनिक प्रतिक्रिया हीनभावना और लज्जा की ही होती है। इसका कारण शायद शिक्षित वर्ग एवं नगर की सभ्यता से प्रभावित वर्ग की यह धारणा है, कि लोक-नर्तक पिछड़े एवं आदिवासी लोगों की आदिम सभ्यता का चिह्न है। ज्यों-ज्यों सभ्यता एवं संस्कृति का विकास होता जाता है, लोक-जीवन का यह आकर्षण भी विस्मृति के गर्त में चला जाता है।

हिमाचल के लोक-नृत्यों का आधार, यहाँ की प्रकृति से गहरा सम्बन्ध होने के कारण उनके लोक-नृत्य प्रकृति के अनुरूप ही सुन्दर हैं जिनमें विविधता और

रंग का वैभव प्रदर्शित होता है। इनके द्वारा लोक-जीवन की आन्तरिक भावनाओं और स्वभाव की अत्यन्त मनोहर झलक मिलती है। फलतः निपुणता के स्वतन्त्र आविर्भाव का अवसर मिलता है, जिसके द्वारा ग्राम्य-समुदाय को सामूहिक आनन्द का आभास होता है। इसी कारण हिमाचल के लोक-नृत्य शहरी जीवन के अभाव से दूर रह पाये हैं।

शिमला के लोक-नृत्य

जब लोकवादक अपने विशेष वाद्यों पर मधुर ध्वनि की गूंज बिखेरते हैं, तो युवक हो या वृद्ध सब एक-दूसरे का हाथ पकड़कर गोलाकार नृत्य आरम्भ करते हैं। नृत्य लोक-वाद्यों और लोक-नृत्यों की ताल पर तीव्र और उग्र हो जाता है। यह मालूम करना कठिन हो जाता है कि कब इसका समय पूरा हो गया और इसमें श्रेष्ठ नर्तक कौन है। दक्ष नर्तक के नेतृत्व में नर्तक दल दायीं दिशा में ताल पर पग बढ़ाता है। कभी छोटे कदम कभी बड़े, कभी उछाल कभी धीमी चाल, कभी आगे कभी पीछे झुकना, कभी दौड़ और छलांगें कभी घुटने झुकाकर, कभी कभी कैंची से कदम, इसी प्रकार नर्तक चलता रहता है। कई बार जब कोई दक्ष लोक-गायक या लोक-वादक नहीं होता तब नर्तक दल स्वयं ही लोक-गीत गाता हुआ नाचता है, दो या तीन नर्तक या गायक आरम्भ में गाते हैं और शेष

सब बाद में उन गीतों की पंक्तियों को दोहराते हैं। प्रायः सभी लोक-नृत्य विलम्बित लय से शुरू होकर द्रुत-लय पर समाप्त हो जाते हैं। ऐसे अवसरों पर प्रायः नृत्य, गीत की गूंज सहसा वायुमण्डल में बिखर जाती है और एक अद्भुत वातावरण की रचना हो जाती है। बांसुरी की मधुर लय से लोक-नृत्य आरम्भ होता है—

कृष्ण जीए मुरली बाजि
मुरली बाजी, मुरली बाजि
मुरली शुणियों नाचदे आजि
नाचदे आजै नाचदे आजि

ऐसे ही लोक-नृत्य गीतों की लय के साथ नर्तक दल शरीर के विभिन्न अंगों का संचालन करते हुए, कदम से कदम मिलाकर, मस्त होकर नृत्य करते हैं। नर्तक दल अपने क्षेत्र में प्रचलित सभी प्रकार के लोकप्रिय लोक-नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। परन्तु यह प्रायः दक्ष नर्तक एवं लोकप्रिय वाद्य के वादक पर निर्भर करता है। लोग प्रायः जब इस प्रकार के नृत्य-शैली से ऊब जाते हैं तो कुछ देर बाद, दूसरा नृत्यगीत आरम्भ हो आता है—

खेलादि आजे मेरी भावरूपीए ओ, भावरूपीये ओ।
कोखे रै खौले मेरी भावरूपीये, भावरूपीये ओ॥
भाटौ रे खौलर मेरी भावरूपीए, भावरूपीए ओ।
जौंगड़ू शौले मेरी भावरूपीए, भावरूपीए ओ॥

और नृत्य गीत के अनुरूप ही नृत्य-शैली में भी तरिवर्तन आ जाता है।

और तीसरे लोकगीत की सुमधुर ताल और लय के साथ जब लोक-वाद्य बजते हैं, तो लोक-नृत्य अपने पूरे जोबन पर आ जाता है—

लच्छी बड़ी सूरतां वाली, तू मेरे कन्ने बोल लच्छिये।
हाय बो पियारिये हाय बो दुलारिये
पतली कमर झुकी जांदी, तू छोटा घड़ा चुक लच्छिए
हाय बो पियारिये, हाय बो दुलारिये

लोक-नृत्य को तीव्र गति देने के लिए तीव्र ताल पर लोक-गीत गाया जाता है। जैसे?—

लाल चोड़िए सेरे न जाणा, सेरे न जाणा······
सेरे पाका मेरे गेहूं रा दाणा, गेहूं रा दाणा······
गीहूं रा दाणा घरे ले आणा, घरे ले आणा······
गीहूं रा दाणा जादा नी खाणा, जादा नी खाणा···

इन सुमधुर नृत्य-गीतों से स्थानीय लोगों को अपने ग्राम, पहाड़ों, वनों, खेतों खलिहानों, नदी, नालों, झीलों, झरनों, देवी-देवता, वीरों, पूर्वजों, सुन्दर और

निष्ठुर प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रति अनुरक्ति टपकती है और नर्तक दल भाव-विभोर होकर झूम-झूम जाते हैं। मीठे और सुरीले कण्ठों से गाए जाने वाले लोक-गीतों के साथ जब लोक-वाद्य बजने लगता है तो नर्तक दल ही नहीं, देवी-देवता भी पालकियों में नाचने लगते हैं और दर्शकगण आत्मविभोर होकर तन्मयता से इनका आनन्द उठाते हैं।

मानव इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं में प्रत्येक धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों में नृत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। नृत्य एक प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान बन गया था। चूंकि उन दिनों सामूहिक जीवन में धर्म की महान् भूमिका रही इसलिए नृत्य भी राष्ट्रीय जीवन का विशेष अंग रहा है। प्राचीन भारत में नृत्य भगवान् शिव नटराज की देन समझा जाता रहा है। परम्परा के अनुसार शिव और पार्वती ने नृत्य की दो महान शाखाओं ताण्डव एवं लास्य का संचार किया और संत-महात्माओं को शान्ति प्रदान की।

हिमाचल प्रदेश की संस्कृति एवं कला-परम्परा को भी एक प्रदेश विशेष की संस्कृति एवं कला के रूप में देखना उसकी महान् गौरवशाली परम्परा का अपमान करना है। हिमाचल की कला-परम्परा का निःसन्देह शेष भारत से गहरा सम्पर्क रहा है और उसे आत्मसात किया है। समय के थपेड़ों ने इन्हें बरबाद करने के लिए कोई कसर शेष नहीं रखी, परन्तु फिर भी जीवित रह सकी है, तो एक बात स्पष्ट है कि इसकी नींव सुदृढ़ है और लोक-जीवन से इसका अटूट सम्पर्क सदैव बना रहा है।

स्वतन्त्रता-उपरान्त हिमाचल प्रदेश में लोक-परम्परा को सुरक्षित रखने की दिशा में कुछ कदम उठाए गये हैं। जैसे प्रत्येक राष्ट्रीय एवं स्थानीय मेलों-ठेलों और युवा-उत्सवों में लोक-नृत्यों का प्रदर्शन एवं सरकार द्वारा प्रोत्साहन। फिर भी लोक-नृत्य-परम्परा को आज सुरक्षित रखने और उसे विकसित रूप देने की अधिक आवश्यकता है। राष्ट्रीय-जीवन में जो सुन्दर है, श्रेष्ठ है, उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। उसको तो संरक्षण एवं प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए, ताकि राष्ट्र को एकसूत्र में बांधने वाली यह परम्पराएं सप्राण होकर राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ़ कर सकें।

—यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्याः व्यैलवाः,
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सानो भूमिः प्रणदतां सपत्नाम् असपत्न,
मा पृथिवी कृणोतु॥

—वेद

—जननी ! तेरे वीर पुत्र जब राष्ट्रगीत है गाते
करते नृत्य मोद मदमाते उत्सव नित्य रचाते
विविध प्रांत भाषा के भाषी लोक-लोक के वासी
रणभेरी सुन मातृभूमि की रक्षाहित बलि जाते ।

लोक-नृत्य आत्मप्रेरणा से प्रस्फुटित हो लोकमानस की कल्पना और इच्छा से कलात्मक और भावात्मक रूप धारण कर जातीय एवं राष्ट्रीय संस्कृति की आनन्दमयी किरणों से युगों-युगों से लोकजीवन के अँधेरे कोनों को प्रकाशित करते रहे हैं और करते रहेंगे ।

हिमाचल लोक-नृत्य परिचय

उर की अतृप्त वासना उभर,
इस ढोल मंजीरे के स्वर पर,
नाचती, गान के फैला पर,
प्रिय जनगण को उत्सव अवसर।

—सुमित्रानंदन पंत

हिमाचल प्रदेश के हिमाच्छादित शिखरों, हरित वनों, मखमली चारागाहों, गाते हुए नदी-नालों, हँसते-खेलते-नाचते पहाड़ी निवासियों के मध्य रहकर जो आत्मिक परितृप्ति मिल सकती है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं। चिरकाल से इस पहाड़ी क्षेत्र के जनपद में जो नैसर्गिक आनन्द, शान्ति, निष्कपटता, गरिमा और महिमा की छटा बरसती है, उसमें आज भी कमी नहीं आई। गांव-गांव के अपने देवी-देवता, लोक-गीत, लोक-वाद्य, लोक नृत्य और लोक-परम्पराएं धीरे-धीरे मूल के महासागर में बहते चले जा रहे हैं। इसी रंग और रस से भरपूर थाती में से कुछ प्रमुख लोक-नृत्यों का यहां परिचयात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने की चेष्टा की जा रही है।

वैसे तो हिमाचल प्रदेश के किसी क्षेत्र के लोक-नृत्य को गिनती की सीमा में नहीं बांधा जा सकता और न ही शास्त्रीय नृत्यों की तरह इन्हें किसी विशेष शैली या नियमों के बन्धनों में जकड़ा जा सकता है। प्रधानतः हिमाचल प्रदेश के लोक-नृत्यों की संख्या भी उतनी ही अधिक है, जितने ग्राम, समुदाय और कुछ लोक-नृत्यों का नामकरण भी ग्रामों के आधार पर हुआ है। जैसे सांगला-नृत्य, पंगवाल-नृत्य इत्यादि। फिर भी प्रत्येक क्षेत्र में कुछ प्रकार के लोक-नृत्य अन्य की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय रहे हैं। ऐसे ही कुछ लोक-नृत्यों का परिचय देने का प्रयत्न यहां किया गया है।

हिमाचल प्रदेश के लोक-नृत्यों में भाग लेने वाले लोगों की संख्या की दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं।

मुंजरा नृत्य नाचता हुआ शिमला का एक युवक

मंडी का नर्तक दल
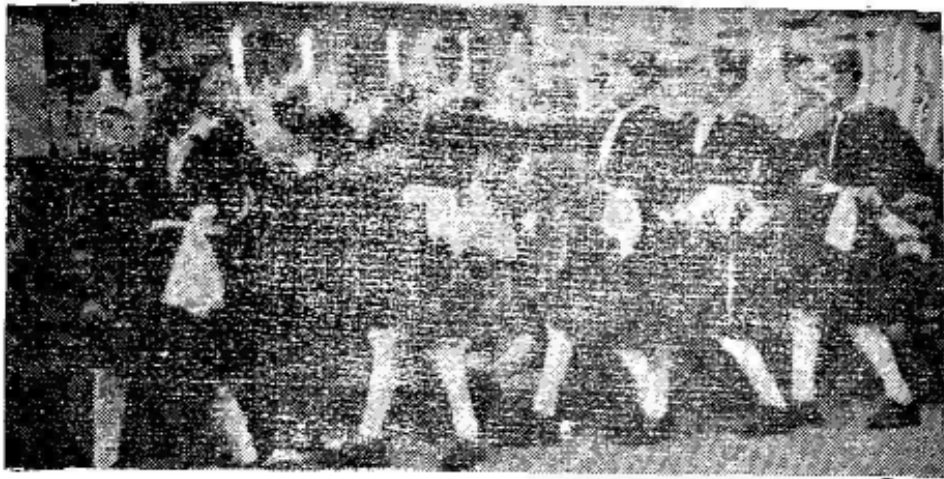
शिमला का प्रधाण लोकनृत्य

शिमला का ठठईयर नृत्य

चम्बा का सैन नृत्य

कुल्लू का नाटी नृत्य
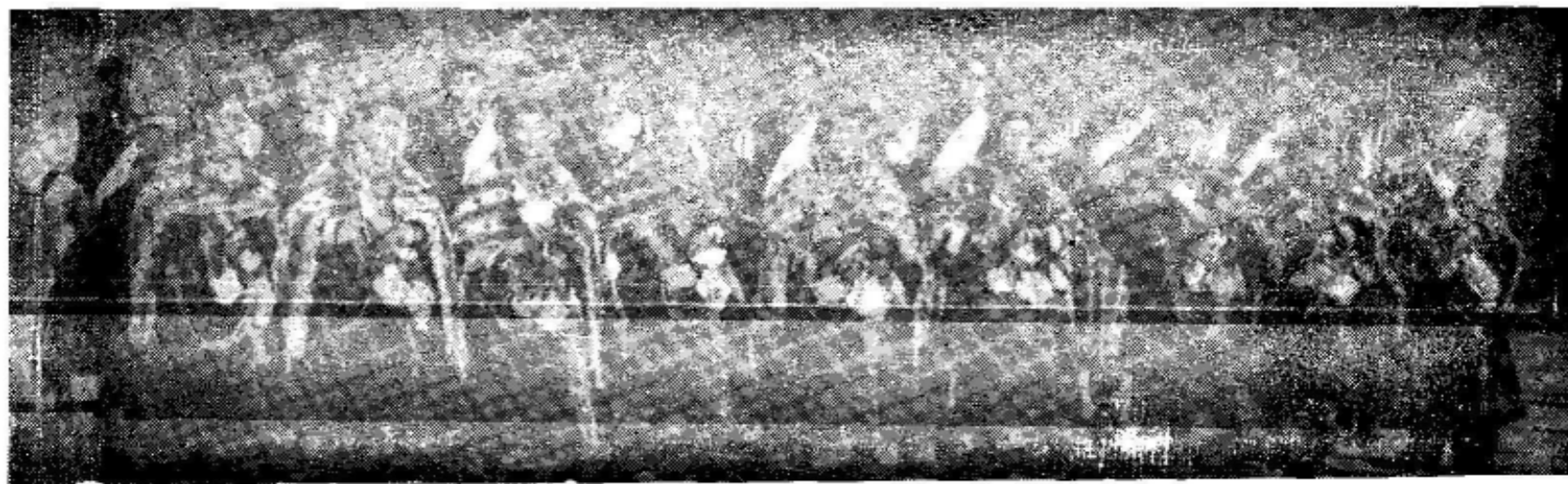
किन्नौर का जापरो लोकनृत्य
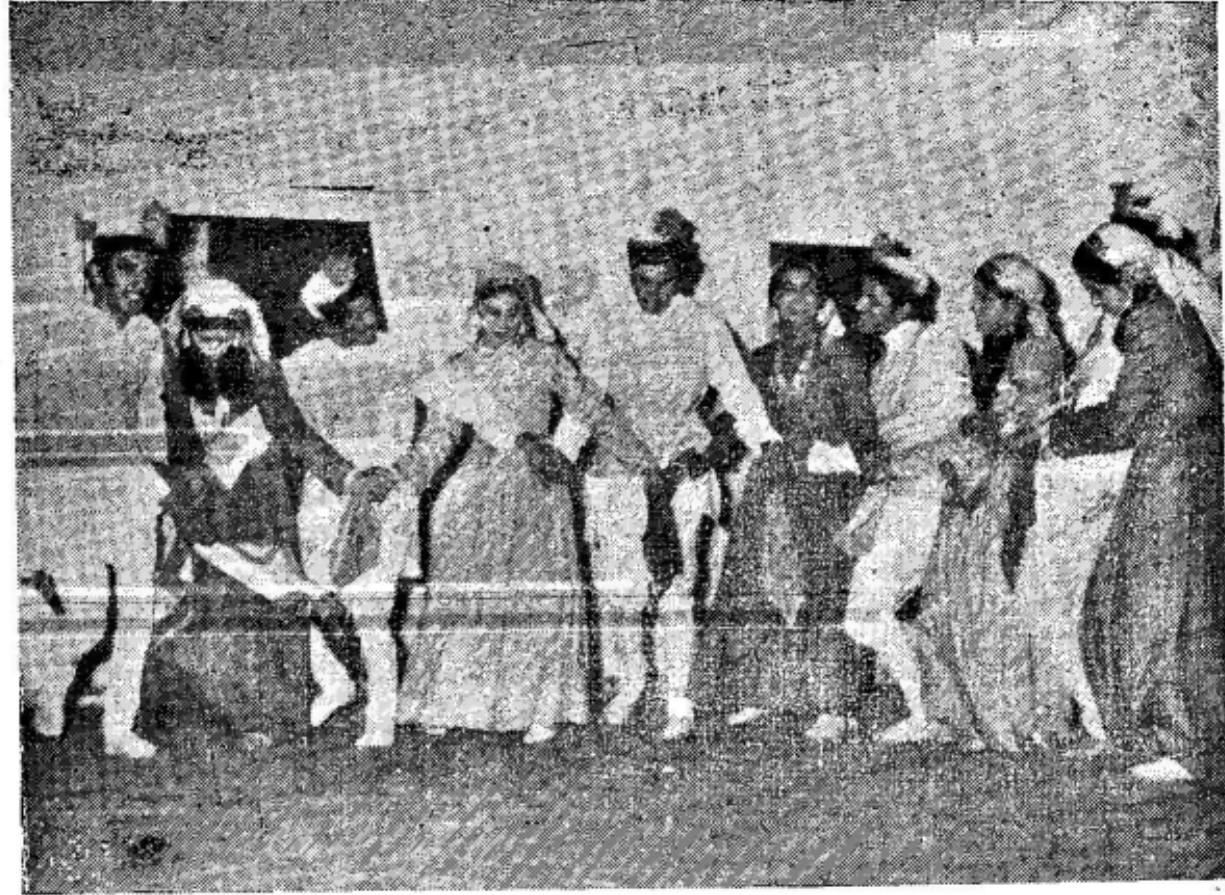
माला नृत्य करता हुआ शिमला जनपद का एक नर्तक दल

लाहौल स्पिति का जोमे नृत्य

किन्नौर का 'क्यांग-नृत्य'

(क) **व्यक्तिगत नृत्य**—ऐसे लोक-नृत्यों में तुरिण और मुंजरा गिने जा सकते हैं। इन नृत्यों में एक या दो नर्तक नाचते हैं। लोकगायक, श्रोता और दर्शक उनको घेरकर बैठ जाते हैं। लोकगायक खंजरी, ढोलकी, गुज्जू, खड़-ताल या हाथ की तालियों से लोक-गीत की धुन और लय उठाते हैं और नर्तक धीरे-धीरे उठकर चारों ओर घूम-घूमकर अपने शरीर के हर अंग को लोकगीत की लय पर नचाता है। कभी-कभी बड़े लोकगायकों के दो दल होते हैं। एक दल लोक गीत की पंक्तियों को आरम्भ में गाता है, दूसरा दल उन्हें उसी ढंग से दोहरा देता है। यह नृत्य गांव के छोटे उत्सवों पर प्रायः रात को होते हैं। ऐसे लोक-नृत्यों का प्रचलन अधिकतर शिमला, सिरमौर, कुल्लू, सोलन तथा मण्डी के ग्रामीण क्षेत्रों में है।

(ख) **समूह लोक-नृत्य**—ऐसे लोक-नृत्यों का प्रदर्शन प्रत्येक बड़े उत्सव, मेलों पर होता है। यह प्रदेश के प्रत्येक भाग में और बाहर भी अधिक लोकप्रिय हैं। ऐसे सामूहिक नृत्यों का परिचय कुछ विस्तार से यहां दिया जा रहा है।

इन लोक-नृत्यों का वर्गीकरण लिंग, जाति के आधार पर भी किया जा सकता है, जैसे—

(क) **महिला लोक-नृत्य**—लोक-नृत्यों में केवल स्त्रियां ही भाग लेती हैं। इन लोक-नृत्यों में हिमाचल के अनेक नृत्य गिने जा सकते हैं। जैसे चम्बा के घुरेही, डांगी और घौडायी लोक-नृत्य, लाहौल स्पिति का जोमे लोक-नृत्य, कुल्लू का लालड़ी लोक-नृत्य और शिमला का तुरिण नृत्य और कांगड़ा क्षेत्र के अनेक लोक-नृत्य गिने जा सकते हैं।

(ख) **पुरुष लोक-नृत्य**—ऐसे लोक-नृत्यों में केवल पुरुष ही नाचते हैं, जैसे सिरमौर और शिमला जनपदीय क्षेत्र के ज़ोली, छट्टी घुगती, ठोडा नृत्य कुल्लू के तलवार, करथी, हरण लोक-नृत्य, लाहौल स्पिति का मकर नृत्य के नाम लिये जा सकते हैं।

(ग) **मिश्रित लोक-नृत्य**—हिमाचल प्रदेश में ऐसे भी असंख्य लोक-नृत्य हैं जिनमें स्त्री-पुरुष मिलकर नाचते हैं। इनमें किन्नौर के अनेक लोक-नृत्य, कुल्लू के नाटी, सांगला, पेखा, चम्बा के गद्दी, पंगवाल नृत्य, शिमला के नाटी, माला इत्यादि लोक-नृत्य शामिल हैं।

इन लोक-नृत्यों का वर्गीकरण अवसर के आधार पर भी किया जा सकता है, जैसे—

(क) **धार्मिक लोक-नृत्य**—धर्म हिमाचल प्रदेश की जनता के दैनिक जीवन का एक अंग है। इसलिए लोक-नृत्य में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा

है। इन लोक-नृत्यों में कांगड़ा क्षेत्र के रास, गुग्गा, भगत नृत्य, कुल्लू और शिमला क्षेत्र के देव खेल नृत्य, चम्बा के सेन नृत्य, तथा लाहौल स्पिति के मकर नृत्य शामिल हैं।

(ख) सामाजिक-धार्मिक नृत्य—प्रत्येक समाज के अपने-अपने मूल्य एवं आदर्श होते हैं। उनका समावेश वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कर लेता है। प्रत्येक जाति का जीवन इसी धुरी के इर्द-गिर्द घूमता है।

सामाजिक, धार्मिक लोक-नृत्यों में प्रायः हिमाचल के सभी क्षेत्रों के सारे लोक-नृत्य गिने जा सकते हैं। कोई मेला या उत्सव देवी-देवता के बिना पूरा नहीं समझा जाता और उनमें लोक-नृत्य का न होना उसे रसहीन बना देता है।

(ग) अवकाश या आनन्द-नृत्य—ऐसे लोक-नृत्यों में फूकी नाटी प्रयाण, नृत्य, ठोडा लोक-नृत्य इत्यादि गिने जा सकते हैं। इन नृत्यों द्वारा मानव को आनन्द भावनाओं को यथेष्ट प्रकटीकरण का अवसर मिलता है।

क्षेत्रीय आधार—यहाँ पर मैंने इन सभी वर्गीकरण की प्रणालियों को सुरक्षित रखते हुए हिमाचल के लोक-नृत्यों का परिचय क्षेत्रीय आधार पर देने का प्रयत्न किया है। क्षेत्रीय आधार पर इन लोक-नृत्यों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। यह वर्गीकरण केवल परिचय के लिए उचित समझता हूँ, अपने-आपमें बिल्कुल पूर्ण नहीं।

(क) पहाड़ी लोक-नृत्य, (ख) आदिवासी लोक नृत्य, (ग) मैदानी लोक-नृत्य।

हिमाचल प्रदेश के लोकप्रिय नृत्यों में पहाड़ी और आदिवासी लोक-नृत्य की विशेष भूमिका है और हिमाचल के सभी लोक-नृत्यों की गिनती पहाड़ी लोक-नृत्यों में भी की जा सकती है। पंजाब और हरियाणा की सीमा से लगे हुए थोड़े क्षेत्रों में कुछ मैदानी लोक-नृत्य जैसे गिद्धा और भंगड़ा भी कभी-कभी प्रदर्शित होते रहे हैं। पर धीरे-धीरे पहाड़ी लोक-नृत्य ही वहाँ अधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, कि हिमाचल प्रदेश के सभी लोक-नृत्यों के बारे में सविस्तार लिखना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि जीवन की तरह इनका भी कोई ओर-छोर नहीं। लोक-कलाकार की प्रतिभा, कल्पना-शक्ति, सौन्दर्य-प्रेम और आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक लोक-नृत्य में परिवर्तन आते रहे हैं और आते रहेंगे। पर एक बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि इन लोक-नृत्यों का लोक-जीवन से जो अटूट सम्बन्ध रहा है, वह कभी ढीला नहीं होना चाहिए। उसी अटूट रिश्ते को कायम रखने की दिशा में उठाये गए कदमों में कभी शिथिलता नहीं आनी चाहिये। कई बार आधुनिक एवं पाश्चात्य वाद्यों के साथ लोक-गीतों एवं लोक-

नृत्यों को जोड़ने का व्यर्थ प्रयत्न किया जाता है, जो सर्वथा निरर्थक एवं घातक सिद्ध होगा।

लोक-नृत्य में कलाकार भले ही स्वान्त सुखाय: काम करता हो, परन्तु अपनी कला को जनता के सामने लोक-रुचि अनुकूल रखना भी उसका सामाजिक कर्तव्य है। ये पहाड़ी लोक-नृत्य लोक-जीवन से सम्बन्धित होकर कोई पृथक् सत्ता नहीं रखते। उसकी उपादेयता वहीं तक है, जहाँ तक वह लोक-जीवन की आशाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करे।

लोक-नृत्य परम्परा का आकर्षण, प्रभाव, शक्ति एवं सजीवता तब तक कायम रहेगी, जब तक वह अपनी मिट्टी की गंध और महिमा को अभिव्यक्ति देती रहेगी; जिसकी वह उपज है, जो उसकी बाहरी तड़क-भड़क में जीवन-प्राण बनकर समा गई है।

यहां केवल हिमाचल प्रदेश के कुछ क्षेत्रों के लोकप्रिय लोक-नृत्यों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया गया है, क्योंकि शास्त्रीय नृत्यों की तरह इन्हें किसी दृढ़ और स्पष्ट नियमों में बांधना संभव नहीं है और वास्तव में ये उन पक्षियों की तरह हैं जो स्वतन्त्र वातावरण में खूब फुदकते, उछलते, उड़ते, चपचहाते हैं, परन्तु नियम-रूपी पिंजरा चाहे सोने का ही हो, उसमें घुट-घुटकर मर जाते हैं।

कुछ जिलों के लोक-नृत्यों का परिचय अलग से यहां मैं इसलिए भी नहीं दे रहा, क्योंकि उनमें भी जो लोक-नृत्य प्रचलित हैं, उनका जिक्र अन्यत्र आ चुका है। केवल नाम और वेशभूशा का कुछ अन्तर आ जाता है और फिर कुछ क्षेत्रों में लोक-नृत्यों की परम्परा आज समाप्त-सी हो चुकी है। इस अरुचि के कारण भौगोलिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सभी हो सकते हैं। क्योंकि भारत के नगर-क्षेत्रों की तरह वहां लोक-नृत्य परम्परा को उस आदर-भाव से नहीं देखा जाता जिसके कारण ये खिलते, पनपते और जीवित रहते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह मत प्रकट किया है जो ठीक भी दीखता है कि "हिमालय का प्रदेश ही गंधर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवास-भूमि है। इनका समाज संभवत: उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पंडित मुनालुअन सोसाइटी कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम; परन्तु वे नाच-गान में कुशल थे। इन्हीं जातियों के साथ किन्नरों का भी विस्तृत वर्णन मिलता है जो नृत्य और गायन-क्रिया में दक्ष थे।" यह तो इतिहासकारों की खोजबीन का विषय है, कि इन जातियों में से कौन-सी जातियां विशुद्ध रूप से हिमालय के इस क्षेत्र में अपनी परम्पराएँ कहां तक सुरक्षित रख पाई हैं। परन्तु इतना आज भी स्पष्ट है कि हिमालय के इस प्रदेश में रहने वाले लोगों में अब भी लोक-नृत्य अत्यन्त लोकप्रिय हैं। हिमाचल प्रदेश के हरियाणा और पंजाब के साथ लगने वाले कुछ

क्षेत्रों को छोड़कर असंख्य लोक-नृत्य अपने परम्परागत रूप में, प्रत्येक उत्सव, त्यौहार और मेलों पर प्रदर्शित होते हैं।

तीव्रगति से बढ़ते शिक्षा-प्रसार, विज्ञान और तकनीकी विकास के फल-स्वरूप जो सामाजिक परिवर्तन हो रहा है, उसके कारण अन्य लोक-मनोरंजन एवं परम्पराओं के साथ लोक-नृत्यों के स्वरूप, शैली और प्रदर्शन में भी परिवर्तन परिलक्षित होना स्वभाविक ही है। परन्तु इन लोकनृत्यों का रंग-वैभव, कला-सौष्ठव, सौन्दर्य-बोध एवं रंगमंचीय प्रभाव आज भी उतना ही गहरा है जितना युगों पहले। इसलिए लोक-नृत्यों की शारीरिक एवं मानसिक आनन्द-भावना मानव-जीनन को सुखी बनाने के लिए आवश्यक है।

किन्नौर के लोक-नृत्य

कहूं किन्नरी किन्नरी लै बजावैं,
सुरी श्रासुरी बांसुरी गीत गावैं,
कहूं यक्षिणी पक्षिणी को पढ़ावैं,
नगी-कन्यका पन्नगी को नचावैं।

—केशव (रामचन्द्रिका)

सबसे पहले हिमाचल के सीमावर्ती क्षेत्र किन्नौर को ही लीजिए। बर्फ से ढकी वास्पा, भाभा, हंग-रंग, कल्पा वादियां और अठारह बीश और पन्द्रह बीश क्षेत्र मिलाकर किन्नौर बना है। ऐसे कहा जाता है कि वर्तमान किन्नरवासी महाभारत काल के किन्नरों के वंशज हैं। उनके कोकिल-कंठी संगीत और मनोहर लोक-नृत्यों का अपना विशेष स्थान है। गांव-गांव में यहां की जनता लोक-नृत्य द्वारा लोक-मनोरंजन करती है। किन्नौर की स्त्रियों को गहने पहनने का बहुत चाव है। यही गहने और पारम्परिक वेशभूषा पहनकर वे लोक-नृत्यों की शोभा बढ़ाती हैं और पुरुषों को नाचने की प्रेरणा देती हैं। लोक-गीत गाने और लोक-नृत्यों के लिए कोई भी क्षण सुअवसर बन सकता है। किसी किन्नौरी लोकगीत में कितने सुन्दर ढंग से कहा गया है—**'खाकौ गियड़ रङ कानारै ऊ रङ'** अर्थात् मुख में गीत रहे और कान पर फूल—यही किन्नरी जीवन का एक आकर्षण है।

सांगला नृत्य—किन्नौर के साङ्ला गांव के नाम से सांगला नृत्य प्रसिद्ध है। यह स्त्री और पुरुषों का मिला जुला नृत्य है। यह देवी-देवता की आराधना का नृत्य समझा जाता है। इसके तीन रूप अधिक प्रचलित हैं। इनमें क्यांग, बक्यांग, और बनियांगचू लोक-नृत्य अधिक लोक प्रिय है।

क्यांग नृत्य :

क्यांग लोक-नृत्य में नर्तक दल आधे घेरे में लोकगायकों के बीच खड़े हो जाते हैं। बीच में बाजे बजाने वाले खड़े हो जाते हैं। नर्तक दल में जो व्यक्ति सबसे आगे नाचता है, उसे घूरे बोलते हैं। घूरे अपने लोक-देवता का चँवर

पुजारी के हाथ से पकड़ता है और इसके साथ ही लोकवाद्य की मधुर धुनें गूंज उठती है। लय को क्यांग धुन से मिलाया जाता है। लोक-नृत्य की गति बढ़ने के साथ साथ नर्तक दल का अर्धवृत्त पूरे घेरे में बदल जाता है और प्रत्येक

किन्नौरी नृत्य

नर्तक अपनी दायीं ओर खड़े तीसरे नर्तक का हाथ पकड़ता है। पूरा नर्तक दल धीमी लय पर झूमता और नाचता है और 'हो, हो' की ऊँची आवाज में बोलता है। उसकी यह आवाज निकलते ही प्रत्येक नर्तक अपने आगे के नर्तक को आगे धकेलता हुआ, बारी-बारी से अपने घुटनों के बल झुक जाता है। हर चार पग के बाद नर्तक कुछ क्षण के लिए ठहर जाते हैं और धीरे-धीरे आगे-पीछे झूमते हैं। नृत्य-गीत पहले दो युवतियाँ गाती हैं फिर समूह-गान के रूप में सभी गाते हैं इस तरह लोकवाद्यों एवं लोकगीत की लय पर यह नृत्य काफी देर तक चलता रहता है।

बक्यांग-नृत्य :

दूसरी प्रकार के लोक नृत्य को बक्यांग कहते हैं। इसमें आमने-सामने दो-दो कतारें होती हैं। पीछे दो या तीन पंक्तियां और होती हैं। एक ओर के नर्तक स्वर और लय पर झूमते हुए, धीरे-धीरे इनके पीछे हटते जाते हैं और दूसरी ओर उसी प्रकार से आगे की ओर बढ़ते जाते हैं, और इसके बाद विपरीत दिशा में भी नर्तक ऐसा ही करते हैं। नृत्य की भंगिमा मुँहामुँही होती है। यह लोक-नृत्य अधिकतर महिलायें ही करती हैं।

बोनयांग चू नृत्य—तीसरे लोक-नृत्य बोनयांग चू में लोक-वादक और गायक मध्य में खड़े होते हैं और नर्तकदल उनके चारों ओर घूमता हुआ नाचता है। लय और स्वर का बंधन इसमें नहीं होता। यह एक प्रकार का स्वतन्त्र लोक-नृत्य है। नर्तक किसी भी चुने हुए स्वर और लय के साथ नाचते हैं। कई बार एक छोर पर बैठी युवतियां नृत्यगीत को उभार देती हैं; परन्तु वे स्वयं नाचती नहीं। यह लोक-नृत्य अधिक सरल है।

लामा नृत्य—लामा या प्रेत नृत्य किन्नौर के आदिवासी भिक्षुओं में अधिक लोकप्रिय है। इस नृत्य का आयोजन भूत-प्रेतों को भगाने और प्राकृतिक प्रकोपों को हटाने के लिये किया जाता है। इस नृत्य में सभी नर्तक मुखौटा पहन कर नाचते हैं। नर्तकदल में से दो नर्तक शेर का मुखौटा पहनते हैं। इस नृत्य में शेष नर्तकदल इन दो शेरों को काबू में करने का प्रयत्य करते हैं, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि भूत-प्रेत और आपत्ति को काबू में किया जा सकता है। इस लोक-नृत्य के साथ ढोल, लामा नरसिंगे और शहनाई बजाए जाते हैं। लाहौल स्पिति के क्षेत्रों में भी यह लोक-नृत्य लोकप्रिय है।

जापरो लोक-नृत्य—किन्नौर का एक और लोकप्रिय नृत्य है, जापरो नृत्य। यह लोक-नृत्य किन्नौर की हंगरंग वादी, में अधिक लोकप्रिय है। इस नृत्य में स्त्री-पुरुष दोनों नाचते हैं। यह भी सामाजिक उत्सवों पर प्रदर्शित किया जाता है। किन्नौर के परम्परागत लोक-नृत्यों में इसका भी विशेष स्थान है।

किन्नौर के अन्य लोकप्रिय नृत्यों में सोन, ग्याकशोन, कटाकापा, शबरो, समग्यक, यांदो-मांदो, रेकशंग, शाबरो, बल्बा, लुशेन, टाली लामो, लकपा-करची-चेजा और मौनशौऊ नृत्य उल्लेखनीय हैं। किन्नौर में ऐसे अनेक लोक-नृत्य प्रचलित हैं।

किन्नौरवासियों को लोक-नृत्यों से असीम स्नेह है। कोई भी उत्सव या रीति हो, वह लोक-नृत्य के बिना पूरी नहीं समझी जाती। इसी प्रकार लोक-नृत्य-गीत भी प्राचीन और अर्वाचीन स्थानीय देवकथाओं पर आधारित होते हैं। हरिजन लोकवादक ढोल, शहनाई इत्यादि लोकवाद्य उठाए लोक-नर्तकों का साथ देते हैं और वे गोलाकार में हाथ-से-हाथ पकड़े नृत्य करते रहते हैं।

क्यांग प्रकार के लोक-नृत्यों का पगगति, हाथ पकड़ने की शैली, लोक-गीतों की विभिन्नता और लोकवाद्यों की ध्वनि पर वर्गीकरण किया जा सकता है। नेसांग में यह नृत्य छः प्रकार का है। माला नृत्य, डबरक्यांग, अलशोन, सोमहेलंग तेगसयांग बगयारशिमिग थुंगरू।

डबरक्यांग—इस लोक-नृत्य में नर्तक-दल एक दायरे में, पुरुषों के नेतृत्व में स्त्रियां नाचती हैं। पुरुष धुरे के हाथ में ज्यों ही चौंरी आती है लोकवाद्य पर निमत बनने लगती है और धुरे चौंरी घुमाता रहता है। फिर लोक-नृत्य धुन

कायङ बजने लगती है। लोक-नर्तक पुरुष के साथ नाचते हैं। दायरे के बीच में नर्तकों का नेता धुरे दायें हाथ में चौंरी लेकर बायें हाथ से अपने तीसरे नर्तक का हाथ पकड़ता है और इस प्रकार सारे नर्तक-वृत्त की शृंखला बनती है। दूसरे नर्तक धुरे की पगगति के अनुसार नाचते हैं। नर्तक आगे, पीछे, दाये-बायें झूमते हुए कदम से कदम मिलाकर नाचते हैं। प्रायः नर्तकदल बायें से दायें चलते हैं। पहले तीन कदम आगे और फिर दो दायें कदम, फिर दूसरा पीछे, इस प्रकार नृत्य चलता रहता है। हर चौथे कदम पर नर्तक कुछ क्षणों के लिए रुकता है और सामने पीछे झूमता है। लोक-नृत्य की इस सामूहिक हिलजुल को चलंग कहते हैं।

लोक-नृत्य के साथ दो स्त्री गायिकायें नृत्य गीत बालगथिंग गाती हैं। उनकी पंक्तियां सारे नर्तक मिलकर गाते हैं। जिसे जगीथंग कहते हैं। नृत्य बड़ी देर तक चलता रहता है।

जातरू कायङ नृत्य—यह लोक-नृत्य किसी त्यौहार के अवसर पर आयोजित होता है और नाच में त्यौहार सम्बन्धी गीत गाए जाते हैं। इसमें नर्तकों की संख्या कभी-कभी सौ से भी ऊपर हो जाती है। धूरे चंवर लेकर नाचता है।

पुलाशोन नृत्य—नेसंग का पुलशोन लोक-नृत्य भी डबरक्यांग की तरह प्रदर्शित होता है। इसके साथ नृत्य-गीत तो नहीं पर लोकवाद्य ढोल, नगाड़े, ढोलकी, करताल और भानो बजते हैं। इस लोक-नृत्य में नर्तकदल का नेतृत्व श-मथास करता है जिसके बायें हाथ में देवता का 'क्रो' होता है। प्रारंभ में नर्तक की कदम, ताल कुछ धीमी होती है। धीरे-धीरे वह तीव्र हो जाती है।

सोमाहेलंग नृत्य—इसी नाम के नृत्य-गीत के साथ इस नृत्य का अभिनय होता है। नृत्य-गीत में कुछ प्रकार के स्थानीय फूलों का वर्णन होता है। यह नृत्य भी थोड़े से परिवर्तन के साथ डबरक्यांग की तरह ही अभिनीत होता है। इस नृत्य की यही विशेषता है, कि इसमें नर्तन की गति धीमी परन्तु आकर्षक होती है और इसमें तीव्र गति नहीं लायी जाती।

तेगो स्वांग नृत्य—तेगो स्वांग नृत्य कर्मज्ञान के लोक-नृत्य गीत के साथ प्रदर्शित होता है। अन्य गीत भी गाए जा सकते हैं और लोकवाद्य भी बजाये जाते हैं। इस नृत्य की गति भी नियंत्रित होती है और नर्तक भी गम्भीर से लगते हैं।

बङ्पारशिमिग क्यांग नृत्य—इस नृत्य में नर्तक लोग वृत्ताकार में अपने से तीसरे व्यक्ति के हाथ पकड़ कर नाचते हैं। इस लोक-नृत्य में नर्तक अपने कदम कभी अन्दर कभी बाहर रखते हैं। आरम्भ में इस नृत्य की गति भी धीमी होती है पर धीरे-धीरे यह बढ़ती जाती है। इस नृत्य के साथ प्रायः रोपा धोल्पा का नृत्य-गीत गाया जाता है।

बक्यांङ या थंगरू नृत्य— यह नृत्य एक दायरे में प्रदर्शित नहीं होता। इसमें

नर्तक दो या इससे अधिक पंक्तियों में एक-दूसरे के सामने नाचते हैं। नर्तकों की एक पंक्ति पीछे हटती जाती है, दूसरी आगे बढ़ती है। इसमें नर्तकों की पंक्तियां आगे-पीछे हटती रहती हैं। नृत्य की गति भी धीमी होती है। इस नृत्य में स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के साथ बिना क्रम के साथ नाचते हैं। प्रायः लोकवाद्य भी नहीं बजाते। इस नृत्य के साथ प्रायः राजा, वजीर और देवी-देवताओं के नृत्यगीत गाए जाते हैं। कमरू में यह नृत्य बीश उत्सव पर अभिनीत होता है इस नृत्य के साथ कम से कम बीस विभिन्न नृत्यगीत गाए जाते हैं। पुरुष प्रायः इस नृत्य में कम नाचते हैं।

बानयुगंचू-चशीमिगनृत्य—इस नृत्य को किन्नौर के नेसंग क्षेत्र में खेरसया भी कहते हैं। लोक-वादक नृत्य के स्थान पर मध्य में बैठ जाते हैं और नर्तक उनके इर्द-गिर्द नाचते हैं। इस नृत्य में स्त्रियां प्रायः नहीं नाचतीं, पर एक ओर बैठकर कभी-कभी नृत्य-गीत गा लेती हैं।

छम्म लोक-नृत्य—इस नृत्य में लामा ही नाचते हैं। यह लोक-नृत्य प्रायः उन गांवों में प्रचलित हैं, जहां लामाओं की संख्या ज्यादा है। फसल की रक्षा के लिए या अन्य विशेष अवसरों पर इसका आयोजन किया जाता है।

थर क्यांङ नृत्य—इस नृत्य में थर (बाघ) की तरह नर्तक लोग तीव्रगति से नाचते हैं। आगे कदम बढ़ाते हैं और पीछे हटते हैं। इसके नृत्य-गीत भी नाटी की तरह ही होते हैं। इस नृत्य में बोर्ची नाटी का लोक-गीत गाया जाता है। प्रायः यह नृत्य तभी प्रदर्शित होता है, जब कोई शिकारी बाघ को मारता है। ऐसे अवसर पर शिकारी के सिर पर वीरता की प्रशंसा के लिए पगड़ी बांधी जाती है और बाघ की खाल में भूसा भरकर उसे नचाया जाता है।

नागन कायङ् नृत्य—यह नृत्य अधिक लोकप्रिय नहीं। कुछ विशेष जगहों पर इसका प्रदर्शन होता है। चगोव, फुल्याच या ऐराटङ, मेलों में यह नृत्य कभी-कभी प्रदर्शित होता है। इस नृत्य में एक विशेष व्यक्ति कण्डे की देवी नागिन बन जाता है और हाथ में पानी से भरा 'क्रो' दिया जाता है। इससे गिरा हुआ पानी सौभाग्य-चिह्न समझा जाता है। इसलिए इस जल को अपने शरीर पर गिराने के लिए अन्य नर्तक सर्प की तरह नाचते हुए नागिन के पास जाते हैं।

छेरकी क्यांग नृत्य—इसमें नर्तक तीव्रगति से नृत्य करते हैं। इसमें प्रायः प्रेमी-प्रेमिका के लोकगीत गाये जाते हैं। इस लोक-नृत्य की लय और गति बहुत तीव्र होती है। इसलिए इसमें प्रायः युवा नर्तक नाचते हैं।

शुना क्यांङ नृत्य—यह लोक-नृत्य प्रायः उन्हीं गांवों में प्रदर्शित होता है, जहां राक्षसों के सम्बन्ध में लोक-कथाएँ अधिक प्रचलित हैं। कभी तीव्रगति से और कभी मंद गति से नृत्य करते हैं। इसमें व्यवस्था का अभाव-सा होता है।

जाबरो नृत्य—जबरो या शबरो का अर्थ होता है—गाते हुए पैर से नाचना।

इस नृत्य में आधा दायरा बनाकर बिना हाथ पकड़े नर्तक नाचते हैं। इसमें प्रायः चार कदम आगे और चार कदम पीछे रखते हुए नाचते हैं। इस नृत्य में दुङम्युर (धर्मचक्र) की भांति नर्तक बायें दिशा की ओर अग्रसर होते हैं। इसमें प्रायः लामाओं को समर्पित करुण गीत गाये जाते हैं। इसमें ढोल नहीं बजाया जाता।

खार नृत्य—इस नृत्य में नर्तक अकेला नाचता है। नृत्य-गीतों और लोक-वाद्यों का उपयोग होता है।

गर नत्य—हङरङ क्षेत्र में यह नृत्य लोकप्रिय है। इस नृत्य में देवता का माली धुरी में (सबसे आगे) झारी के साथ नाचता है। इस नृत्य में दोरजे छेन्मो देवी जो लोचा रिनकिन जाङवो (रत्नभद्र) की शुडमा (रक्षक) समझी जाती है, अकेली ही नाचती है और सबसे पहले उसका माली नृत्य करता है। इस नृत्य में हाथ न पकड़कर, नर्तक केवल चादर या रूमाल आदि हाथों में घुमाकर नाचते हैं।

पूह क्षेत्र के लोकप्रिय नृत्यों में ग्यबशुन, ग्यडलू, ग्युक्शुन, दोडशुन, जबरोह, करलू, छडल के नाम लिए जा सकते हैं।

लाहौल स्पिति के नृत्य

गा रही स्त्रियां मंगल कीर्तन
भर रहे तान नवयुवक मगन
हंसते, बतलाते बालक गण

—पंत

लाहौल स्पिति पर्वतशृंखलाओं तथा तिब्बत, चम्बा, किन्नौर और कुल्लू से घिरा हुआ पहाड़ी क्षेत्र है। आदिकाल से ही यह जिला अपनी प्राकृतिक सीमाओं के कारण एकान्त में रहा है। वर्ष-भर में यह क्षेत्र अधिकतर बर्फ से ढका रहता है। यह एक ओर तो रोहतांग पास (ऊंचाई १३,४०० फीट और दूसरी ओर कुन्जम १५,००० फीट ऊंचाई) से घिरा हुआ है, जो लाहौल को स्पिति से अलग करता है। लाहौल की अपेक्षा स्पिति पिछड़ा क्षेत्र है। लाहौल स्पिति का क्षेत्रफल १२,२१० वर्गमील है। यह घाटी तीन घाटियों में विभक्त है—तिन्न, पटन् तथा गार वादी। चन्द्र और भागा यहां की दो प्रमुख नदियां हैं। तन्दी नामक स्थान में दो नदियों का संगम होता है। उससे आगे ये दो नदियां अपना नाम छोड़कर चनाब नदी का नाम धारण करती हैं। लाहुल गरजा तथा स्वांगला इस घाटी के पर्यायवाची नाम हैं। इन आदिवासियों के लिए लोक-नृत्य ऐसे ही स्वाभाविक लगते हैं, जैसे मानव बोलता है। लोकगीत, लोक-नृत्य और छंग पीना तीनों साथ-साथ चलता है। मुख्य रूप से यहां के नृत्य दो प्रमुख रूपों से प्रदर्शित होते हैं। एक है लोक रूप दूसरा धार्मिक रूप जो बौद्ध विहारों में ही होता है।

शैनि और शब्बू लोक-नृत्य—लाहौल स्पिति का एक प्रसिद्ध लोक-नृत्य शैनि और शब्बू है। शैनि लोक-नृत्य तो प्रायः बौद्ध विहारों में ही भगवान बुद्ध की प्रतिमा के सामने प्रदर्शित किया जाता है। यह पूर्णतः धार्मिक नृत्य है। इसके साथ कोई लोक-संगीत नहीं बजाया जाता, केवल नगाड़ा और बांसुरी ही बजाते हैं। इसकी अपेक्षा शब्बू लोक-नृत्य धार्मिक न होकर सामाजिक ही है। यह नृत्य

बौद्ध-मठों के बाहर सामाजिक उत्सवों में भी प्रदर्शित किया जाता है। नृत्य की गति धीरे-धीरे तीव्र होती जाती है।

ज़ोमे नृत्य—ज़ोमे लोक-नृत्य स्त्रियों का प्रिय नृत्य है। नर्तकदल एक घेरे में खड़े होकर नृत्य-गीत गाते हुए नाचते हैं। युवक और बच्चे भी कभी-कभी इसमें भाग लेते हैं। स्त्रियां एक-दूसरे के हाथ थाम लेती हैं। यहां के स्थानीय वाद्यों की मधुरता जब वातावरण में घुल जाती है; तब दर्शकगण एक स्वर्गिक आनन्द का अनुभव करते हैं।

एक बालती नृत्य—इस लोक-नृत्य में एक स्त्री एक हाथ से ढोलक थामे रहती है और दूसरे हाथ से उसे सिर के साथ थामे हुए बजाती रहती है और तीन-चार पुरुष और स्त्रियां उसके संगीत की लय में नाचते रहते हैं और साथ में लोकगीत गाते हैं। इसी तरह यह नृत्य नर्तकदल के मस्त नृत्य, लोकगीत और लोकवाद्य की मधुर त्रिवेणी के संग चलता रहता है।

मकर नृत्य—इसी प्रकार मकर नृत्य (Dvagon Dance) में नर्तक मुख पर मुखावरण पहनते हैं। शरीर पर लम्बा चोला पहनते हैं जिसके बाजू लम्बे होते हैं। इस पहनावे में नर्तक का कोई भी अंग दिखाई नहीं देता। इस नृत्य के साथ एक कथा भी जुड़ी हुई है। भोट राजाओं में लांग दर्मा राजा बहुत अत्याचारी था। उसने हिमाचल प्रदेश के धर्म और संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने में कोई भी कसर न उठा रखी थी। उसने अनेक बौद्ध-विहार, पुस्तकालय नष्ट किए। पंडित और लामा मौत के घाट उतारे। एक बार जब वह विजय-उत्सव मना रहा था तो उसमें यह मकर नृत्य भी हो रहा था। वह नर्तक अपने कपड़ों में एक छुरा छिपाकर लाया और नाचते-नाचते राजा के समीप पहुँचा और छुरे से राजा की हत्या कर डाली। तब से यह नृत्य लाहौल स्पिति का लोकप्रिय नृत्य समझा जाता रहा है। इस नृत्य में लामा लोग गिथर उत्सव पर नाचते हैं। नर्तक लोग खुकरी के साथ नाचते हैं।

छम या प्रेत नृत्य—यह धार्मिक नृत्य है और बौद्ध गोम्पा में प्रदर्शित होता है। नर्तक चमकीले और भड़कीले वस्त्र-आभूषण पहनकर जानवरों, पक्षियों और प्रेतों के चमकीले मुखौटे पहनते हैं। नर्तक बार-बार एक ही शैली में नाचते हैं और लयात्मक रूप में पांव पटकते एक ही दायरे में नाचते हैं। हाथ में कढ़ाई किये झंडे लिये नर्तकों के अभिनय के साथ-साथ मुखौटा पहने नर्तक विनोद करते हुए एक विचित्र-सा प्रभाव वातावरण में फैला देते हैं। इस नृत्य में लामा लोग भी भाग लेते हैं और नर्तक के साथ कुछ मन्त्र भी पढ़ते हैं। नर्तक विभिन्न प्रकार के प्रायः आठ मुखौटे पहनते हैं। ये आठ करोढ़ा भयानक रूप आठ महान बोद्धिसत्व के प्रतीक हैं।

प्रोफी नृत्य—यह भी सामूहिक और पुराना नृत्य है। इसमें स्त्री-पुरुष भाग

लेते हैं। नर्तक एक वृत्त में नाचते हैं। साथ में लोकवाद्य ढोल और बांसुरी भी बजाते हैं। स्त्री नृत्य-गीत गाती है। यह सरल नृत्य है और नर्तक आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन भी कर सकते हैं।

शौन नृत्य—इस नृत्य में संगीत नहीं होता। नर्तक एक लय में कदम पटकते हुए धीरे-धीरे नाचते हैं और एक-दूसरे के बाजू पकड़कर वृत्ताकार में नाचते हैं।

शीनी नृत्य—यह भी लगभग शौन नृत्य की तरह है। कई बार गाते हुए नर्तक जोर से तालियां बजाते हैं और नृत्य-गीत गाते हैं।

छोडपा नत्य—इस नृत्य में प्रायः मुखाभिनय होता है। नर्तक मुखौटे पहनते हैं। साथ में स्थानीय लोकवादक भी अपनी चिरपरिचित लोक-धुन बजाते हैं।

स्पिति क्षेत्र में स्त्री-पुरुष प्रायः प्रत्येक नृत्य में साथ नाचते हैं। केवल लामा लोग अलग नाचते हैं।

स्पिति क्षेत्र में बेटास जाति के लोग व्यावसायिक नर्तक होते हैं जिन्होंने इस क्षेत्र की पारम्परिक लोक-नृत्य-कला को जीवित और सुरक्षित रखा है। सारे स्पिति क्षेत्र में ऐसे लोगों की संख्या पचास से अधिक नहीं होगी। ये सब अनुसूचित जाति के आर्थिक रूप से निर्धन लोग होते हैं। स्पिति क्षेत्र के लोकप्रिय नृत्यों में से ये नृत्य गिने जा सकते हैं।

गरे नृत्य—इस नृत्य में स्त्री और पुरुष अलग-अलग नाचते हैं। लोकवाद्यों की धुन के साथ यह नृत्य बड़ी धीमी गति से प्रदर्शित होता है। साथ में लोग नृत्य गीत भी गाते हैं। यह नृत्य घर के भीतर भी प्रदर्शित किया जाता है।

जबरू नृत्य—इस नृत्य में स्त्री-पुरुष साथ नाचते हैं। इसमें लोकवाद्यों की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती है। दूसरे नर्तक के पीठ-पीछे से तीसरे नर्तक का हाथ पकड़कर नर्तक पंक्तिबद्ध होकर नाचते हैं। आधी पंक्ति पुरुष नर्तकों की और आधी स्त्री नर्तकों की होती है। नृत्यगीत की एक पंक्ति पुरुष गाते हैं दूसरी का उत्तर स्त्रियां भी नाचती हुई गाकर देती हैं।

मूंकर नृत्य—इस नृत्य में स्त्री-पुरुष अलग-अलग नाचते हैं और साथ में लोकवाद्य अपनी पारम्परिक शैली में बजाते हैं। लोकवादक नृत्यगीत की एक पंक्ति गाते हैं जिसे सारे नर्तक उठाते हैं।

बुकुम नृत्य—यह नृत्य केवल लामा नाचते हैं। इसमें भी पारम्परिक लोकवादक और लोकगायक लोकवाद्य और लोकनृत्य-गीत गाते हैं।

शौन नृत्य—यह किन्नौरी लोक-नृत्य से मिलता-जुलता है। उपर्युक्त नृत्य की शैली में इसे नाचते हैं।

भूचन नृत्य—चूंकि इस नृत्य में केवल भूचन जाति के लोग नाचते हैं, इसलिए इसका नाम भूचन पड़ गया है। इस नृत्य में तलवार चलाने की दक्षता प्रदर्शित होती है।

लाहौल स्पिति के इन आदिवासी लोक-नृत्यों की अद्भुत वेश-भूषा और लोकवाद्यों से वातावरण पर एक विचित्र-सा प्रभाव छा जाता है। भले ही आप लोकगीत की कोई पंक्ति न समझ पा रहे हों, परन्तु मन-ही-मन आपको एक अपूर्व आनन्द का आभास होने लगता है और यही लोक-कला की श्रेष्ठता का प्रमाण है।

कुल्लू के लोक-नृत्य

ढालपुरौ विजयादशमी लागी आसा बाजा मंगाणा,
गीतो लाणे शोभले शोभले, कुल्लू रा नाट लगाणा।

हंसते-खेलते, नाचते-गाते कुल्लू निवासियों का भी कोई समारोह, पर्व या त्यौहार बिना लोक-नृत्य, लोक-संगीत और खेल-तमाशों से सम्पन्न नहीं होता। निःसन्देह लोक-संगीत की तरह लोक-नृत्य भी उनके लिए प्रसन्नता अभिव्यक्ति का एक प्रमुख साधन है। यहां के लोग स्वभाव से ही आनन्दप्रिय एवं शान्ति-प्रिय हैं।

सारा कुल्लू प्रकृति का अत्यन्त मनोहर और समृद्ध स्थल है। यहां के सुन्दर दृश्य, चरागाहें, पहाड़, नदी-नाले, हरे-भरे वन सभी यहां के सौन्दर्य को चार चांद लगाते हैं। श्रीयुत लालचन्द प्रार्थी के शब्दों में—"कुल्लू और सिराज के लोगों के सम्बन्ध में बहुत से अंग्रेज शौकीन लेखकों ने यह बात खासतौर पर लिखी है कि ये लोग नाचने-गाने और फूलों के अत्यन्त शौकीन हैं कुल्लू और सिराज के मेलों की रंगीनियों का कोई मुकाबला नहीं है। कुल्लूई नाच जिसे नाटी कहते हैं निश्चित कुल्लूई लिबास में अपने ढंग की एक अपूर्व कला है। वाद्यों की लय और शहनाई की धुन पर जब कुल्लूई संगीत की लहरें उठती हैं तो नाचने वाला अनायास एक हार्दिक मस्ती में झूम-झूमकर नाचने लगता है। कुल्लू का नाच कबाइली नहीं बल्कि प्रतिष्ठित तथा शोभनीय शारीरिक स्पन्दन तथा मृदुल मनोवृत्ति के प्रभाव के अधीन उत्पन्न होने वाली गति की अद्‌भुत् तथा कलात्मक अभिव्यक्ति इस नाच में उन्हें एक आध्यात्मिक और दैविक अनुभूति का आभास होता है। कुलुत देश के लोग जब भी किसी मेले पर जायेंगे तो प्रत्येक पुरुष-स्त्री, बच्चे, बुढ़ों को फूलों से सुसज्जित पायेंगे।" टोपी में फूल, बालों में फूल, गले में फूलों का हार, स्त्रियां प्रायः कान के ऊपर फूल को सजाती हैं और तभी कुल्लुई लोक-गीत का यह पद वातावरण में गूंज उठता है—

सूने जूही रा झुमकु शोभला, मौथे पांधली बिन्दी।
कोना पीछला डोल्हरू झूरिये मूलै देली की सौंदी ॥

अर्थात् ऐ मेरी यादों की रानी तेरी जूहि का झूमर जो सोने के रंग जैसा है बहुत सुन्दर है और सोने पर सुहागा का काम तुम्हारे माथे की बिन्दी कर रही है परन्तु असल बात तो यह तेरे कान के पीछे लटके हुए गेंदे के फुल की ही है, बता इसे कीमत से देगी या प्यार के बदले मुफ्त। ऐसे ही अनगिनत नृत्य-गीत लोक-नृत्य को सप्राण और शोभला बनाते हैं।

नाटी-ढीली, रूंझका—अन्य क्षेत्रों की तरह कुल्लू में भी नाटी नृत्य अधिक लोकप्रिय है। कुल्लू में यह सात प्रकार का नृत्य है। लोकवाद्यों एवं लोक-संगीत की ताल पर लोकनर्तक के कदम थिरकने लगते हैं। इस नृत्य में न ही नर्तक दल की कोई संख्या निर्धारित होती है और न ही हर बार विशेष वेशभूषा पहनते हैं। नाटी कई प्रकार से नाची जाती है। इनमें ढीला-देसी, तिणकी, फेटी, बसाहरी, दोहरी, लाहली, चम्बायली, बाखली, काहिका, हुलकी, उजगजमा, गढ़-गढ़ेकर, खड़यात, बांठड़ा, लुडी, तरासे आदि।

इस नृत्य में नर्तक पहले बाईं ओर से लगातार कदम लेता है, चौथी बार बाईं टांग को पीछे करते हुए दाईं टांग से केवल एक कदम लेकर पीछे हटाता है। यह क्रम अन्त तक जारी रहता है। कई बार नर्तक एक-दूसरे के आगे-पीछे नर्तन करते हुए अलग-अलग नाचते हैं और कई बार एक-दूसरे के पीछे हाथ पकड़े हुए चलते हैं। इसके अनेक उपरूप हैं। जब इस नृत्य में नर्तक धीमी ताल से नाचते हैं तब उसे ढीली नाटी कहते हैं। तीव्र गति से नाचने पर उसे रूंझका कहते हैं। जब नर्तकदल एक पंक्ति में नाचते-नाचते दो पंक्तियों में बंट जाते हैं, उसे दोहरी नाटी कहते हैं। बहुधा इसमें स्त्रियां भाग नहीं लेतीं, परन्तु प्रदर्शनी नृत्य में व्यावसायिक मंडलियों एवं शिक्षा संस्थाओं की ओर से प्रस्तुत होने वाले लोक-नृत्य में इस नियम का पालन नहीं होता।

लाम्बर नृत्य—इसमें नर्तकदल एक दायरे में एक-दूसरे से कुछ अन्तर पर खड़े होकर पहले दाईं टांग से एक कदम आगे लेते हैं। फिर लय के साथ बायां-दायां-बायां तीन लगातार पीछे की ओर लिये जाते हैं। चौथा कदम अन्य कदमों से लम्बा लेकर फिर पूर्व स्थिति में पंक्ति में आ जाते हैं और कदम के साथ ही हाथों से ताली बजाई जाती है।

लालड़ी नृत्य—यह स्त्रियों का लोकप्रिय नृत्य है। इसमें स्त्री नर्तकदल दो पंक्तियों में बंट जाते हैं और आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। एक दल लोकगीत की एक पंक्ति गाना आरम्भ करता हुआ कमर कुछ झुकाकर, दोनों हाथों से तालियां बजाता है और जब तक गीत की एक पंक्ति पूरी नहीं हो जाती, नर्तक पंक्ति आगे बढ़ती जाती है और दूसरा नर्तक दल पीछे हटते हुए नाचता है। जब लोक-

गीत की पंक्तियां पूरी हो जाती हैं तब पहली पंक्ति वाला नर्तकदल खड़ा हो जाता है और दूसरी नर्तक पंक्ति उसी तरह नीचे झुकती, आगे बढ़ती, तालियां बजाती और गाने की दूसरी पंक्ति पूरी करती है और यही क्रम चलता रहता है।

हरण नृत्य—एक और नृत्य हरण भी बहुत प्रचलित है। यह प्रायः रात को ही संभव है। इसमें दो आदमियों पर उनकी झुकी हुई स्थिति में सफेद और धारीदार काला पट्टु ओढ़ कर हिरन की शक्ल बनाई जाती है। सबसे आगे नाचने वाले के सिर पर लकड़ी के नकली सींग बनाये जाते हैं। उसके चारों ओर दो आदमी उसके साथ-साथ नाचते रहते हैं, उनमें से एक नारी की वेशभूषा पहने होता है। यह चम्बा के लोकनाट्य हरणेतर के रूप में भी प्रदर्शित होता है।

तलवार नृत्य—कुल्लू में भी प्रदेश के अन्य क्षेत्रों की तरह प्रायः प्रत्येक ग्राम-देवता का अपना लोकगायक दल, लोकवादक और लोकवाद्य होते हैं, जो देवयात्रा के संग चलता है। ढोल और अन्य लोकवाद्य, शहनाई, करताल इत्यादि की सुमधुर गूंज में नर्तकदल की तलवारें अपनी विशेष नर्तक वेशभूषा में वाद्यों की ताल पर हाथों में हिलती हैं और तलवार-नृत्य आरंभ हो जाता है। कुछ नर्तक विलग होकर नर्तन के साथ तलवार का खेल दिखाते हैं। इस खेल में प्रत्येक नर्तक नाचता हुआ, दूसरं प्रतिद्वन्दी के वार से बचाव करता है। शेष नर्तकदल एक हाथ में तलवार लेकर और दूसरे में ढाल लेकर नृत्य करते रहते हैं। तलवार नृत्य की समाप्ति पर नर्तक जोड़े फिर से माला में आकर लयात्मक गति के साथ नृत्य का मनोहर प्रदर्शन करते हैं। यह लोकनृत्य आनन्ददायक होने के साथ-साथ धार्मिक भी है।

सांगला नृत्य—सांगला नृत्य में स्त्री-पुरुष साथ नाचते हैं। यह नृत्य स्थानीय देवी-देवता और वीर-पुरुषों की याद में प्रदर्शित होते हैं। इसमें पुरुष और स्त्रियां आमने-सामने अलग-अलग अर्द्धावृत्त बनाते हैं; परन्तु लोक नृत्य की प्रगति के साथ-साथ वे आपस में मिल जाते हैं। लोकनर्तक प्रश्नोत्तर के रूप में नृत्यगीत गाते हुए नाचते हैं।

करथी नृत्य—कुल्लू का एक अन्य लोकप्रिय नृत्य है करथी। इस नृत्य में प्रायः स्त्री-पुरुष दोनों नाचते हैं। भड़कीले, सुन्दर और नये वस्त्र, आभूषण में लोग गांव के खुले मैदान में आकर चांदनी रात में लोकगीत गाते हुए नाचते हैं। लोकनर्तक एक-दूसरे का हाथ थाम कर एक वृत्त बनाते हैं और धीरे-धीरे संगीत और लोकनाच की ताल पर नाच आरम्भ होता है। शीघ्र ही नृत्य में गति आने लगती है और जब यह नृत्य चर्मोत्कर्ष पर पहुंच जाता है तब नारी लोकनर्तक अपने सहायक नर्तक का आनन्द और भी बढ़ाकर अपने हाथ और पैरों के स्पन्दन से प्रेरित करती है। लोक-नृत्य की गति का लोक-संगीत की भावनाओं के साथ गहरा सम्बन्ध होता है। इन नृत्यगीतों की विषयवस्तु कहीं वीरता है तो कहीं

प्रेम; कहीं देवताओं की स्तुति। दशहरा या अन्य प्रमुख उत्सवों पर कुल्लू के लोक-नृत्यों की शोभा देखते ही बनती है।

पेखा नृत्य—इस नृत्य में स्त्री-पुरुश नाचते हैं। नर्तकदल एक घेरे में हाथ पकड़कर नाचते और गाते हैं। नर्तक गीत और वाद्यों की लय पर नाचते, गाते और उछलते हैं।

इन लोक-नृत्यों के अतिरिक्त भी कुल्लू में अनेक अन्य नृत्य प्रचलित हैं, जैसे लुड्डी, प्रेक्षनी, नाटारंभा, दयाली, छड़ी, बांठड़ा। इन नृत्यों में कुछ दूसरे नाम से अन्य क्षेत्रों में भी लोकप्रिय हैं।

देऊ खेल—इस नृत्य के लिये प्रत्येक देवता के भण्डार में रखे हुए विभिन्न प्रकार के शस्त्र निकाले जाते हैं। इन में खण्डा, लोहे की जंजीरें, माला, तीन-चार किस्म की लोहे की कटारें होती हैं। कहीं-कहीं जंजीरों में बंधा हुआ लोहे का एक कांटेदार गोला भी होता है। इन सारे हथियारों को देवता के चेले के आगे, जिसे गुरु कहते हैं, जमीन पर गाड़ दिया जाता है। तब गुरु नंगा होकर इनमें से हरेक के प्रयोग का पूर्ण प्रदर्शन करते हैं तथा कटारों को अपने नंगे शरीर पर चलाता है। लोहे की जंजीरों से अपने नंगे शरीर को पीटता है साथ-साथ ढोल तथा अन्य लोकवाद्य की एक विशेष ताल पर नाचता भी जाता है। इस नृत्य को शक्तिपूजा का प्राचीनतम रूप भी माना जा सकता है।

फागली नृत्य—कुल्लू में फागली का त्यौहार विशेष रूप से मनाया जाता है। इस नृत्य में कुछ विशेष नर्तक राक्षसों का घास-फूस का लिबास और मुंह पर प्राचीन समय के लकड़ी के बने हुए राक्षसों के मुखौटे लगाकर नाचते हैं। उनका नाच और उनकी गति निःसन्देह मनुष्य की नहीं होती। एक एक नर्तक (राक्षस) इस सुन्दर किले में से किसी सुन्दर स्त्री या अच्छी लड़की को तलाश करने का अभिनय करता है; जिससे स्पष्ट होता है कि राक्षसों का परस्पर नाच तो होता ही है; इसके साथ-साथ इस नृत्य में देवता के हाथों राक्षसों की पराजय या दूसरी अवस्था में राक्षस के साथ समझौता की कहानी दोहराई जाती है। इस नृत्य में उन हथियारों का भी प्रदर्शन किया जाता है, जो इस लड़ाई में प्रयोग में लाए गए थे।

चम्बा के नृत्य

गोरी दा मन लगेया चम्बे दियां धारां।
घर घर टिकलू घर घर बिंदलू,
घर घर बांकिया नारां।

शिवालिक पहाड़ियों को छूकर आन्तरिक हिमालय तक ८,१२४ वर्ग-मीटर भू-भाग पर फैला चम्बा जिला उत्तर-पश्चिम और पश्चिम में जम्मू काश्मीर के भद्रवाह, उत्तरपूर्व और पूर्व में लद्दाख, लाहुल और बड़ा भंगाल और दक्षिणपूर्व में कांगड़ा और पंजाब के गुरदासपुर जिले की सीमाओं से घिरा हुआ है। चम्बा क्षेत्र भी अपने सुमधुर लोकगीतों की तरह सुमधुर सौम्य लोक-नृत्यों के लिए प्रसिद्ध है। चम्बा और पांगी क्षेत्र के प्रचलित प्रमुख लोक-नृत्यों में नाद,

गद्दी नृत्य

नाच, डंडारस, फुरेही, पांगी, फुराटी और सेन नृत्यों के नाम गिने जा सकते हैं।

सच तो यह है कि चम्बा के लोक-जीवन की अमर थाती लोकगीत और

लोक-नृत्य को यदि किसी ने जीवित रखा है तो उसका श्रेय चम्बा के गद्दी, चुराही, पंगवालों और लामों को जाता है। आधुनिकता की चकाचौंध में नयी पीढ़ी में इन लोक-मनोरंजन के परम्परागत साधनों की ओर कुछ उदासीनता-सी आ रही है, परन्तु पुराने लोग आज भी इनसे बढ़कर आनन्द किसी अन्य साधन में नहीं पाते।

गद्दी लोक-नृत्य—गद्दी हिमाचल प्रदेश के हंसमुख और रंगीन लोग हैं। ये लम्बे-चौड़े और हृष्ट-पुष्ट परिश्रमी होते हैं और स्वभाव के सीधे-सादे और विनम्र होते हैं। नाच-गाकर यह लोग मन बहलाते हैं। गद्दी नृत्य में नर्तक गीतों के स्वर और लय झूमते हुए गोलाकार दायरे में नाचते हैं। यह लोक-नृत्य के साथ बड़े-बड़े ढोल और मारू बाजा बजाते हैं। उनका सुन्दर चोला छतरी की तरह नाचते हुए फैल जाता है। गद्दी नृत्य में प्रायः गद्दी युवक और वृद्ध नर्तन करते हैं। दल में एक नर्तक मुखिया का काम करता है। उनके लोक-नृत्य गीत भी प्रायः श्रृंगारिक होते हैं। गीत की प्रत्येक पंक्ति पहले मुखिया झूम-झूमकर गाता है और फिर दल के शेष नर्तक उसका अनुकरण करते हैं। लोक-गीत की पंक्तियां ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, लोक-नृत्य में अधिक गति और स्फूर्ति आने लगती है। नर्तक मस्त होकर झूम-झूमकर नाचते हैं। 'हरिनट', 'भला है' का शोर वातावरण में गूंज उठता है। नृत्य-गीत स्त्रियां गाती हैं और पुरुष केवल हो-हो करते हैं। गद्दी-नृत्य का सौन्दर्य और माधुर्य देखते ही बनता है। चम्बा में मिंजर मेले तथा अन्य मेलों में इनका आनन्द उठाया जा सकता है।

पंगवाल नृत्य—गद्दियों की भांति पंगवाल भी मनमौजी लोग हैं और लोक-गीत एवं लोक-नृत्य इनका लोकप्रिय मनोविनोद है। प्रत्येक उत्सव पर नृत्य आवश्यक समझा जाता है। जाति-पाँति के भेदभाव बिना सब नाचते हैं। देवी-देवता की यात्रा की शोभा भी लोक-नृत्य में है। नृत्य की प्रगति के साथ-साथ अन्य लोग भी नृत्य में शामिल होते जाते हैं। पंगवाल प्रायः सामूहिक नृत्य ही नाचते हैं। अकेला नृत्य का रिवाज नहीं है। स्त्री-पुरुष अलग-अलग नाचते हैं। पुरुष दिन में अधिक नाचते हैं और स्त्रियां सायं ढलने के बाद नाचना पसन्द करती हैं। लोक-नृत्य में हर तीसरा व्यक्ति नर्तक एक-दूसरे का हाथ पकड़कर वाद्यों और लोकगीतों की धुन और लय पर मस्त होकर नाचता है। यहाँ के लोकवादक प्रायः हरिजन होते हैं। हरिजन बांसुरी और ढोल बजाते हैं। नर्तक गाते हुए और नाचते हुए दायरे में शरीर को चारों ओर लहराते हुए हाथ सिर ऊपर और कभी नीचे झुकाते हैं। जब नृत्य चर्मोत्कर्ष पर पहुंच जाता है तो उसमें स्फुर्ति आ जाती है। नर्तक तब तक चारों ओर घूमता हुआ नाचता रहता है, जब तक वह थक नहीं जाता।

सेन नृत्य—पंगवालों का सेन नृत्य धार्मिक है। यात्रा के दौरान यह नाचा

जाता है। इसके साथ गीत नहीं होता। बांसुरी और ढोल की लय पर ही नर्तक नाचते हैं। नर्तकदल में एक अगुआ होता है। उसके हाथ में एक गणेश (कुल्हाड़ी) होती है जिसे वह शरीर के साथ घुमाता रहता है। लेकिन हुन्डन की मन्वत की यात्रा में सैन नृत्य उल्टे रूप से किया जाता है। लोग बायें से दायें के स्थान पर दायें से बायें नाचते हैं। ऐसा कहा जाता है कि जब प्राचीन काल में सैन नृत्य हो रहा था, तब एक राक्षस पंगवाल के भेष में दल के मध्य नाचने लगा। वह किसी की जान लेना चाहता था, लेकिन वह पांगी के दो भाइयों सन्नो और कर्मू को अपने स्थान से न हटा सका, उन्होंने किसी तरह नर्तकदल को संकेत किया कि वह सैन नृत्य को उल्टे तरह से करें ताकि वह राक्षस भाग न सके नृत्य और इसके साथ पवित्र धार्मिक मन्त्र का उच्चारण करें। सैन नृत्य सारी रात चलता रहा, तो लोगों को राक्षस का एक बड़ा मृतक शरीर देखकर आश्चर्य हुआ। इसीलिए वह सैन नृत्य को उल्टा नाचते हैं।

फराटी और डन्डारस लोक-नृत्य—ये नृत्य सरल शैली में हैं। ये नृत्य किसी उत्सव या संस्कार, जन्म, विवाह, फसल काटने पर थकने पर प्रदर्शित होते हैं। इस नृत्य में पुरुष भी नाचते हैं। इस नृत्य में अधिक दक्षता की आवश्यकता नहीं। खुशी प्रकट करने पर कोई बंधन नहीं, कोई सीमा नहीं। इसलिए सभी नाचते हैं।

घुरेही नृत्य—घुरेही नृत्य में केवल स्त्रियां ही नाचती हैं। इसमें लोकवाद्यों एवं गीतों के साथ नाचा जाता है। इसे प्रायः दो प्रकार से नाचा जाता है। प्रथम शैली में स्त्रियां घेरे में खड़ी होकर नाचती हैं। इसके साथ गाये जाने वाले नृत्यगीतों में प्रायः नारी का नख-शिख वर्णन होता है। नर्तन करती हुई स्त्रियां एक-दूसरे की ओर भाव-भरा लयात्मक संकेत भी करती जाती हैं और लोकगीत भी गाती जाती हैं। नृत्यगीत प्रश्नोत्तर के रूप में गाया जाता है।

डांगी नृत्य—यह लोक-नृत्य भी स्त्रियों में अधिक लोकप्रिय है। यह नृत्य घुरेही नामक नृत्यगीत के साथ प्रायः किया जाता है। घुरेही नृत्यगीत प्रश्नोत्तर शैली में ही आगे बढ़ता है। इसमें किसी हरिजन लड़की के प्रति किसी राजा के प्रेम का चित्रण है। इसमें लोककथाओं के स्थान पर लोगगीतों को अधिक महत्व दिया जाता है। इस नृत्य में नर्तक एक गोल दायरे में एक-दूसरे से बाहें मिलाकर नाचते हैं।

घोड़ायी नृत्य—यह लोक-नृत्य भी स्त्रियों में अधिक प्रचलित है। इस नृत्य में नर्तक दल दो दायरों में नाचता है। शरीर के ऊपरी भाग को आधी गोलाई में घुमाते हुए पगगति पर लोच देते हैं। नाचते हुए ताल और गीत की लय पर बाहें उठाना, झुलाना और बारी-बारी से दोनों दायरों का लोकगीत की पंक्तियां उठाना घोड़ायी नृत्य की एक विशेषता है।

झांझर नृत्य—यह लोक-नृत्य चम्बा का परम्परागत नृत्य है। इस लोक-नृत्य में स्त्री-पुरुष दोनों साथ नाचते हैं। इस लोक-नृत्य में पहला घेरा स्त्री नर्तकों का होता है और उनके घेरे के बाहर एक बड़ा वृत्त पुरुष नर्तक बनाते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि यह लोक-नृत्य सूरजमुखी पुष्प की भांति खिलता और सिकुड़ता है। यह नृत्य धीरे-धीरे आरम्भ होकर समय पाकर इस नृत्य में गति आती है। नर्तक दल अपनी नर्तन-मुद्राओं में परिवर्तन भी लाते हैं और स्थानान्तरण करते हैं। लोकवाद्यों की सुन्दर लय बढ़ाई जाती है, जिससे नर्तन में गति और मस्ती आती है।

छिनजोटी नृत्य—यह नृत्य भी एक दायरे में नाचा जाता है। नर्तक कभी एक ओर कभी दूसरी ओर झुकते हैं। कभी एक ही अगह कदम टिकाकर शरीर के प्रत्येक अंग को लयात्मक रूप से नृत्यगीत की ताल पर शरीर हिलाते और नचाते हैं। इस नृत्य के साथ प्राय छिनजोटी नृत्यगीत गाया जाता है, जिसमें प्रेमातुर गद्दिन अपने गद्दी को मर्मस्पर्शी पंक्तियों में स्मरण करती है।

मंगवाली नृत्य—यह लोक-नृत्य विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के अवसर पर, विवाह या लड़के की बधाई के अवसर पर प्रदर्शित होता है। इस नृत्य में सभी छोटे-बड़े, अमीर-गरीब बिना जातपात के भेदभाव के नाचते हैं। इस नृत्य में दक्ष नर्तकों की जरूरत नहीं पड़ती। औरतें भी नाचती हैं; परन्तु वे पुरुषों से अलग नाचती हैं। कई जगह तो ओरतें घर से बाहर नहीं घरों के अन्दर ही नाचती हैं। इस नृत्य के एक रूप में नर्तक या गायक दो दलों में बंट जाते हैं, बीच में काफी खाली जगह नर्तकों के लिए छोड़ देते हैं। फिर एक अन्य दल का एक नर्तक नाचता हुआ उठता है और गाकर प्रस्तुत प्रश्न का नाचता हुआ मध्य में आकर गाकर उत्तर भी देता है। दोनों नर्तकों की दो दल में बैठे लोग अपनी ओर के गाने में स्वर से स्वर मिलाते हैं। यह सिलसिला देर तक चलता रहता है।

चुराही नृत्य—यह लोक-नृत्य झांझर नृत्य से मिलता-जुलता है, इस नृत्य में स्त्री-पुरुष समान रूप में भाग लेते हैं, परन्तु अलग दल में नाचते हैं। प्रायः स्त्री नर्तक दल के चारों ओर पुरुष नर्तकदल नृत्य करता है। स्त्री और पुरुष नर्तक-दल की ताल परस्पर प्रायः नहीं मिलती। स्त्री नर्तकदल अपने नृत्य-गीत की ताल पर नाचती हैं और पुरुष अपने नृत्यगीत की ताल पर। दोनों दल नृत्यगीत बदलने के साथ गति भी उसके अनुकूल बदलते हैं। ज्यों-ज्यों नाच समाप्त होने लगता है नृत्य की गति तीव्र होती जाती है और नृत्य में उछल-कूद और जोश बढ़ जाता है। यह नृत्य प्रायः २-३ घण्टे तक चलता रहता है।

पांगी नृत्य—इस नृत्य में स्त्री-पुरुष साथ भी नाचते हैं। इस नृत्य में दल एक दायरे में नाचते हुए अपने बायें हाथ के साथी का हाथ पकड़कर दायें ऊपर उठाकर नाचता है। कभी कदम आगे कभी पीछे, कभी शरीर आगे झुकाकर

नर्तक नाचते हैं। शरीर का संचालन और हाथ का नाचना अत्यन्त आकर्षक लगता है। कदम और शरीर का संचालन लोक-गीत और लोकवाद्यों के उतार-चढ़ावों पर चलते हैं। प्रायः नृत्य का आरम्भ धीमी गति से होता है, परन्तु धीरे-धीरे गति तीव्र हो जाती है।

चम्बा के लोक-नृत्यों की बहार मिंजर मेले के अवसर पर देखी जा सकती है जो इस क्षेत्र का एक प्रमुख उत्सव है।

कांगड़ा क्षेत्र के लोक-नृत्य

कांगड़े दा टिल्लाओ श्रड़ेया, कांगड़े दा टिल्ला,
हिमाला इसदे श्रास श्रो श्रड़ेया, कांगड़े दा टिल्ला।

जहां कांगड़ा, हमीरपुर और ऊना क्षेत्र कांगड़ा चित्रशैली एवं वीरता के लिए इतिहासप्रसिद्ध रहे, वहां लोक-नृत्य की परम्परा अब अधिक लोकप्रिय नहीं रही। कांगड़ा क्षेत्र के हिमाचल प्रदेश में पहली नवम्बर, १९७६ को मिलने से पहले तक कुल्लू और चम्बा के लोक-नृत्य भी इस क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं और अब भी हैं। फिर भी कुछ लोक-नृत्य इन क्षेत्रों में प्रचलित रहे, जो प्राय: झीरों, जुलाहों, जोगियों या स्त्रियों तक ही सीमित रहे। कांगड़ा के लोक-नृत्यों के विभिन्न रूप मिलते हैं जिनमें (१) चन्दरौली या मन्दूल नृत्य, (२) झमाकड़ी नृत्य, (३) भगत-नृत्य, (४) गुग्गा-नृत्य, (५) रास-नृत्य, (६) गिद्धा-नृत्य मुख्य हैं। इनमें अधिक लोक-नृत्य धार्मिक नृत्य ही है।

(१) **चन्दरौली नृत्य**—इस लोक-नृत्य का प्रचलन प्राय: शीतऋतु में रहा। इसमें भाग लेने वाले इस क्षेत्र में बसने वाले प्राय: झीर और जुलाहे होते हैं। इस नृत्य में रौलू कलाकार बन-ठनकर नाचता है और तबलची, लोकगायक और छैणियों वाले इस नृत्य में रंग और रस भरते हैं। केवल एक स्त्री-पात्र चन्दरौली ही इस नृत्य की मुख्य कलाकार है। ये दो मुख्य पात्र कृष्ण और राधा का रूप धारण कर हास-बिलासमय मुद्रा में मस्त होकर नाचते हैं और शेष पात्र ग्वालों की तरह इनके इर्द-गिर्द नाचते हैं। पालमपुर क्षत्र में इसी लोक-नृत्य को मन्दूल बोलते हैं। इन लोक-नृत्यों क़े साथ मुख्य नृत्य-गीत माता दियां भेटां, भजन और ऋतुगीत गाये जाते हैं।

(२) **झमाकड़ी नृत्य**—झमाकड़ी नृत्य प्राय: विवाह-शादी के अवसर पर ही आयोजित किया जाता है। दूल्हा या दुल्हन को तेल बुटेणा लगाकर नहा-धोकर स्त्रियां, ताई, चाचियां और अन्य सम्बन्धी स्त्रियां आटे का नानू बनाकर लाल कपड़े लेकर मटक-मटककर नाचती हैं। दूसरे पक्ष की स्त्रियां नाचती हुई नानू को

छुड़वाने का प्रयत्न करती हैं। देखने वाले हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाते हैं। नाचने वाली स्त्रियां नानू की झलक (झमाकड़ा, झमाका या फलाका) दिखाकर फिर उसे छिपाकर नाचती हैं। इसमें गीत और नाच दोनों साथ चलते हैं।

(३) **भगत नृत्य**—इस लोक-नृत्य को जीवित रूप में रखने का श्रेय इस क्षेत्र के झीरों और चमारों को जाता है। इसमें भाग लेने वाले नर्तकों को भगतिये बोलते हैं। इसकी कथावस्तु भी कृष्णलीला के साथ जुड़ी हुई है।

इस नृत्य का आरंभ भी आरती से होता है। फिर विशेष वेशभूषा पहनकर हाथ में डण्डे बजाता हुआ एक नर्तक आता है और अपनी बात कथा द्वारा सुनाकर दर्शकों का मन रिझाता है। इस नर्तक को भी मनसुखा या भगतिया का रौलू कहते हैं। साथ में कृष्ण और गोपियां अपनी लीला रचने लगते हैं। जाति और क्षेत्र के अनुसार इसमें कुछ अन्तर भी आ जाता है। यह लोक-नृत्य रात को होता है। नर्तक कई रूपों में नर्तन करते हुए इसे आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते है। इस लोक-नृत्य के अन्य रूप लोक-नाट्य के रूप में प्रदर्शित होते हैं।

(४) **गुगाहल या गुग्गा नृत्य**—कांगड़ा क्षेत्र में गुग्गा-पूजा प्रचलित है। नृत्य का भी सीधा सम्बन्ध गुग्गा-पूजा से है। प्रायः जोगी लोग ही इसमें भाग लेते है। जोगी लोग रंग-बिरंगी डोरियां लटकाकर हाथ-पैरों में राख मलकर, हाथ में छत्री और लोहे की सोठी ले गम्भीर मुद्रा बनाकर दबातरे, ढोल बजा मोर मुठे झुला-झुलाकर नाचते हैं। जब ढोल की ताल ज़ोर पकड़ती है तो नृत्य में भी स्फूर्ति आती जाती है।

(५) **रास-नृत्य**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस नृत्य का सम्बन्ध कृष्णलीला से है। कांगड़ा क्षेत्र में १९४७ तक यह लोक-नृत्य मरासी और गुसाईं लोग रचाते थे। रास-नृत्य आरती से आरंभ होता है। नर्तक कृष्ण के आगे प्रार्थना करते हैं। रास-नृत्य करते हुए गीतों के भाव, रास के लोक-नर्तक हाथ-पैर या मुंह या शरीर के अन्य अंगों को हिला-झुलाकर अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसमें नर्तकी का नाचना, गाना, मटकना, नखरे करना ही सबसे आकर्षक है। मनसुखा नर्तक के आगे-पीछे नाचता और गाकर कृष्ण की तरह गोपी को रिझाने का प्रयत्न करता है।

(६) **गिद्धा-नृत्य**—इसका रूप पंजाबी गिद्धे की ही तरह है। इसे कई जगह नाच या स्वांग-नृत्य भी कहते हैं। इस नृत्य में स्त्रियां गोलाई में नाचती हैं। इसमें सम पर आने के बाद पहले गीतपंक्ति के उतरते ही स्त्रियां हाथ की तालियों पर तेजी से गिद्धा डालती हैं। इसमें ढोलक ही बजायी जाती है। यह कई प्रकार से नाचा जाता है। कभी-कभी यह नृत्य स्त्रियां बन्द कमरे में भी करती हैं। सुजानपुर टीहरा एवं पालमपुर क्षेत्र में यह लोक-नृत्य अधिक लोकप्रिय है। यह नृत्य विवाह-शादी और होली के अवसर पर भी किया जाता है।

इस क्षेत्र के लोक-नृत्य की परम्परा समय की गति के साथ धूमिल पड़ती जा रही है; जिसका विशेष कारण यही लगता है कि इस क्षेत्र में राजनैतिक परिवर्तन, सांस्कृतिक उथल-पुथल और जकड़न, जातिवाद का प्रभाव कुछ ऐसे रहे हैं कि लोक-नृत्य की परम्परा पिछड़े या निम्न वर्ग की जातियों तक ही सीमित रही। ऊंची जाति के लोग इन लोक-नृत्यों को विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। इसी प्रकार स्त्रियां लोक-नृत्यों को साधारण जनसमाज के सामने प्रदर्शन करना ठीक नहीं समझती थीं। इस क्षेत्र में गोरखा-नृत्य और हिमाचल प्रदेश के अन्य लोक-नृत्य भी बड़े उत्सवों पर प्रदर्शित किये जाते हैं।

पहली नवम्बर, १९६६ के दिन कांगड़ा, ऊना, हमीरपुर, सोलन क्षेत्र के हिमाचल प्रदेश का एक अंग बन जाने से इस क्षेत्र की लोक-कला एवं लोक-जीवन को एक नया निखार मिला है, जो सांस्कृतिक विकास का द्योतक है।

बिलासपुर एवं मंडी के लोक-नृत्य

बिलासपुर और मंडी क्षेत्र के लोक-नृत्य मिलते-जुलते हैं, जिनमें नाटी, गिद्धा, स्वांग, भजन और रास के नाम लिए जा सकते हैं। इन लोक-नृत्यों पर पंजाब के लोक- नृत्यों का प्रभाव भी स्पष्ट है। गिद्धा शायद हिमाचल प्रदेश के पंजाब के साथ लगते कुछ सीमावर्ती जिलों में प्रचलित है। मंडी के ग्रामीण क्षेत्र में प्रायः कुल्लू से मिलते-जुलते लोक-नृत्य भी प्रचलित हैं।

गिद्धा नृत्य—यद्यपि पुरुषों का इन लोक-नृत्यों में शामिल होना वर्जित नहीं है, फिर भी इस नृत्य में प्रायः स्त्रियां ही भाग लेती हैं। नर्तक के लिए तलवार, कुर्ता और सिर ढांपने का वस्त्र काफी है। झांझर भी पहनी जाती है, ताकि नृत्य के समय आकर मधुर ध्वनि गुंजरित हो। गिद्धा के लिए गिद्धा लोक-नृत्यगीत ही ढोलकी के साथ गाये जाते हैं। गिद्धा नाचने के लिए ढोलक बजानेवाली स्त्री को घेरकर नाचते हैं। नाचते हुए नर्तक और दर्शक दोनों तालियां बजाते हैं। नृत्य का आरंभ धीमी गति से होता है और समाप्ति पर तीव्र हो जाता है।

नाटी नृत्य—नाटी लोक-नृत्य और लोकवाद्य को भी कहते हैं। इस लोक-नृत्य में आयु, स्त्री, पुरुष, ऊंच-नीच का कोई भेद नहीं रखा जाता। यह लोक-नृत्य खुले स्थान पर प्रदर्शित होता है। वैसे तो इस नृत्य के लिए कोई खुशी का अवसर हो सकता है, पर फिर भी प्रायः फसल काटने के बाद लोग नाचते हैं। लोकगीत के साथ लोकवाद्य भी बजते हैं। इस नृत्य में कदम, ताल और हाथ का प्रदर्शन प्रमुख आकर्षण है।

स्वांग लोक-नृत्य—स्वांग को भी कई लोगों ने लोक-नृत्यों में शामिल किया है, पर वास्तव में यह करयाला, बांठडा, देवधान इत्यादि का ही दूसरा नाम है। निःसन्देह इसमें लोक-नृत्य, लोकगीत और लोकवाद्य भी एक आवश्यक अंग है।

इस नृत्य की शैली स्थान-स्थान पर बदली मिलती है। इसमें शामिल होने के लिए दक्ष नर्तक की आवश्यकता होती है। यह नृत्य प्राय: विवाह इत्यादि के समय प्रदर्शित होता है। इसे लोकनाट्य के रूप में भी प्रदर्शित किया जाता है।

भजन-कीर्तन नृत्य—शहरी क्षेत्र में लोग धार्मिक अवसरों पर एकत्रित होकर कीर्तन का आयोजन करते हैं; इस कीर्तन में स्थानीय देवी-देवता या हिन्दू देवी-देवता की अराधना के गीत गाये जाते हैं। ज्यों-ज्यों वातावरण पर भक्तिरस का प्रभाव बढ़ता जाता है, भक्ति से अभिभूत कुछ भक्त लोग आत्म-विभोर होकर नृत्य करने लगते हैं। इसमें कोई शैली नहीं, कोई कदम-ताल का बंधन नहीं। भजन की लय पर कोई भी किसी तरह नाच लेता है।

रास नृत्य—रास नृत्य केवल व्यावसायिक मंडलियां ही प्रदर्शित करती हैं। इसमें १० से १५ नर्तक भाग लेते हैं। यह नृत्य ६ तरह से किया जाता है। इसका आरंभ कृष्ण-स्तुति से होता है। कृष्णलीला इसका प्रधान अंग है। यह ग्राम्यक्षेत्र में अधिक लोकप्रिय नहीं। अन्य लोक-नृत्यों का जिक्र अन्यत्र हो चुका है।

किनौर के होरिगफो की तरह मण्डी क्षेत्र का लोकनाट्य बांठडा भी प्रसिद्ध है।

शिमला क्षेत्र के लोक-नृत्य

हाय मामा, तेरै नाकौ री तिली, हाय मामा···
भूरी लागि बोलौ नाचदि मामा, चैंई सुपने मिली, हाय मामा··
हुंदी बोलि ला शिमला मामा, ऊबा बोलणा जाखा, हाय मामा···
तेरै खाया बोलो लोभलं नयणं, घौरो जोगा न राखा, हाय मामा···

शिमला और सिरमौर जनपदीय क्षेत्र के लोक-नृत्यों में कोई स्पष्ट विभिन्नता नहीं। केवल कहीं-कहीं कुछ स्थानीय पुट जैसे नामकरण या वेषभूषा में फर्क आ गया है।

इस क्षेत्र के लोकप्रिय वाद्यों में खंजरी, गुज्जु (डमरू), खड़तात, नगाड़ा, ढोलक, शहनाई, करनाल और नरसिंहा हैं। प्रत्येक ग्राम-देवता या क्षेत्रपाल देवता के साथ प्रायः यह सब लोकवाद्य स्थाई रूप से रहते हैं, जिन्हें परम्परागत कुशल लोक-वादक, ढाकी, तुरी या बाजगी बजाते हैं।

इस जनपदीय क्षेत्र के लोक-नृत्यों में ढीली नाटी, फूकी नाटी, लाहौला-भगौला, माला, घुघती, प्रयाण (विरसू, बीशू, या जोध) दिवाली, तुरिण, (ढाकणी या बजागी) ढोडा, जोली, मुंजरा इत्यादि के नाम गिने जा सकते हैं।

नाटी नृत्य—

ओरु औरे हायड़ू लाणा धौरमा
नाटीए नाचदै लागा शौरमा (हीरा-कमला)

नाटी लोकगीत भी है और लोकवाद्य एवं नृत्य-शैली भी। यह सात प्रकार का नृत्य है। ढीली नाटी, फूकी नाटी, लम्बी नाटी, डियउड़ी नाटी, ताउड़ी नाटी और कड़माऊ नाटी। प्रमुख अन्तर गति और तदनुरूप गीत का है।

ढीली नाटी—ढीली नाटी लोक-नृत्य में लोकवाद्य बड़ी धीमी लय और ताल में बजाये जाते हैं और उसी धुन के अनुकूल नृत्यगीत गाये जाते हैं। उदाहरणतः इस नृत्यगीत की दो पंक्तियां लीजिए—

मेरिया ठयोगा चतर देशा, कोंलरामा चतर देशा।
खाचरी गाशौ भौंहिदा बेशा, कोंलरामा भौंहिदा बेशा ॥
संघूरी धारी दे खींडुए चणं, कोंलराम खींडूए चणे।
साथौ रै आदमी पन्दरह भौणे, कौंलरामा पन्दरह भौणे ॥

ऐसे लोक-नृत्यों की गूँज पर ही वाद्य बजते हैं और नर्तक शरीर के प्रत्येक अंग को वाद्य और गीत की लय पर थिरकन देते हैं। इस नृत्य में प्राय: पुरुष ही भाग लेते हैं। प्रत्येक पग बड़ी धीमी गति से आगे बढ़ता है। नर्तक ऊपरी शरीर के भाग को चारों ओर नचाते हुए झूमते हैं। नर्तकदल के आरंभ में नाचने वाले को धूर का नर्तक कहते हैं। उसी के अनुसार शेष नर्तक नाचते हैं। वाद्य की ध्वनि पर पहले पहला कदम नीचे, फिर ऊपर, दूसरा नीचे, फिर ऊपर। यही क्रम चलता रहता है। यह लोक-नृत्य मेलों में ही प्रदर्शित होता है। सबका हाथ एक-दूसरे की कमर पर होता है।

फूकी नाटी—फूकी नाटी में भी नर्तक दल आधा दायरा बनाकर खड़े हो जाते हैं; परन्तु एक-दूसरे को छूते नहीं। नर्तक एक गोल दायरे में नाचते हुए अपने शरीर को चारों ओर घुमाते हुए, आगे बढ़ते हैं। यह नृत्य भी पुरुषों का नृत्य है और विशेष उत्सवों पर इसका प्रदर्शन होता है। इस नृत्य की गति भी बड़ी धीमी होती है।

लाहौला भगावला नृत्य—इस नृत्य में लोग एक पंक्ति में खड़े हो जाते हैं। गीत और वाद्य की ताल पर इसमें गति आती है। यह नृत्य भी प्राय: पुरुष ही नाचते हैं। नर्तक पहले दो कदम नाचते हुए पीछे हटाते हैं और फिर खड़े होकर झूमते हैं। फिर ऊपर और गोडा झुकाना और पग आगे, यही क्रम चलता रहता है। लोकवाद्य और अनुकूल लोक-गीत के बिना शायद ही कोई लोक-नृत्य सफल समझा जाता है।

माला लोक-नृत्य—यह नृत्य इस क्षेत्र का लोकप्रिय नृत्य है। यह प्रत्येक उत्सव त्यौहार, विवाह, देव-यज्ञ और मेलों में ही क्या, प्रत्येक गाँव के मैदान या खलिहान में सांझ के समय प्रदर्शित होता है। यह लोक-नृत्य अन्य से सरल है। इसलिए यह लोक-नृत्य गांव के सभी स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े नाच लेते हैं। इसमें स्त्री-पुरुष साथ-साथ या अलग-अलग दोनों तरह से नाचते हैं। सारे लोकवाद्य उपलब्ध न भी हों, तो भी खंजरी से गुजारा चल जाता है। नर्तक एक पंक्ति में खड़े होकर, लोक-गीत और खंजरी की ताल पर पहले दायां कदम, फिर बायां कदम आगे बढ़ाकर नृत्य-क्रम जारी रखते हैं। नर्तक शरीर को आगे और पीछे झुकाते और एक-दूसरे की कमर पर हाथ रखकर माला-सी बनाते है। लोक-गीत बदलने के साथ नर्तक की चाल और ताल में भी परिवर्तन आ जाता है। लोक-

गायक की जोड़ी पहले नृत्य-गीत की पहली पंक्ति उठाती है और शेष माला में नाचने वाले उसी पंक्ति को दोहराते हैं। इसी प्रकार नृत्य-गीत आगे बढ़ता है और नृत्य चलता रहता है। कई बार लोकगायक माला के मध्य में धूर में नाचने वाले के साथ गाते, खंजरी बजाते और नाचते हैं और विशेष उत्सवों पर जैसे मेला इत्यादि पर यह काम ढाकी या तूरिन स्त्रियां करती हैं।

घुगती-नृत्य—घुगती-नृत्य में नर्तक एक-दूसरे के पीछे एक आधा दायरा बनाकर खड़े हो जाते हैं और दोनों हाथ सामने वाले नर्तक के कंधों पर रखकर लोक-गीत और वाद्यों की ताल पर सारे नर्तक गोलाकार में घूमकर नाचते हैं। इस नृत्य में घुगती गीत की यह पंक्तियां प्रायः दोहराई जाती है।

घुधुती - घुघुती
शुणां रे लौगुवे घुघुती
नाटी लागे बड़ी जुगती

यह लोक-नृत्य भी प्रायः पुरुष ही नाचते हैं और मेलों के अवसर पर कभी-कभी यह लोक-नृत्य देखने को मिलता है। इसमें नृत्य की गति पहले तीव्र हो जाती है और फिर धीमी। यह नृत्य कुछ कठिन भी है। इसलिए बहुत कम इसका प्रदर्शन होता है।

छुट्टी लोक-नृत्य—यह अन्य लोक-नृत्यों की अपेक्षा कुछ कठिन है। इसके लिए काफी पूर्वाभ्यास की आवश्यकता रहती है। यह नृत्य भी प्रायः पुरुष ही नाचते हैं। इसलिए साधारण लोक-नर्तक इस नृत्य को ठीक तरह से नहीं नाच पाते। इस नृत्य के लिए दक्ष नर्तक के साथ, दक्ष लोकवादक की भी आवश्यकता रहती है। इस नृत्य के साथ नृत्य-गीत यदि कण्ठों की अपेक्षा शहनाई पर भी गाया जाये तो भी काम चल पड़ता है। नहीं तो, ढाकिण या तुरिण स्त्री के मधुर कण्ठ से निकले गीत की लय और ढोलक या नगाड़े की ताल पर भी यह लोक-नृत्य अत्यन्त लुभावना लगता है। इस नृत्य के लिए विशेष लोक-गीतों की उतार-चढ़ाव के साथ गाया जाता है। जैसे—

जोबनी दायिए लौए लवाई।
जोबनी दायिए लौवे लवाई॥
झिशिकी डेवी तु बैली न आई।
बैली न आई, बैली न आई॥

इस लोक-नृत्य में एक-दूसरे के हाथ नहीं पकड़े जाते। नर्तक एक हाथ में रूमाल लेकर और दूसरे में खांडा या तलवार लेकर एक-दूसरे के आगे-पीछे गोल दायरे में क्रम से खड़े होकर झूम-झूमकर नाचते हैं। इसमें कदमों का क्रम अत्यन्त जटिल होता है। धूर में नाचने वाले नर्तक का अनुकरण करते हुए नर्तकदल के अन्य नर्तक नाचते हैं। इस नृत्य की गति बढ़ी धीमी रहती है।

प्रयाण, बिशू, बिरसू, युद्ध नृत्य—इस नृत्य में लोक-नर्तक हाथ में कोई डंडा, रूमाल, तलवार या डांगरू लेकर एक-दूसरे के पीछे या इधर-उधर बिना क्रम के खड़े होकर नाचते हैं। जब नर्तकदल, देव मंदिर से मेले के मैदान में या अपने गांव से मेले के मैदान तक या एक गांव से दूसरे गांव तक नाचते हुए आते और जाते हैं, तब यह लोक-नृत्य प्रदर्शित होता है। इसमें ढोल, नरसिंहा, ढोलक, नगाड़ा, शहनाई और करनाल इत्यादि वाद्य बजाते हैं। दो नर्तक प्रारम्भ से गाते हैं, और शेष नाचते हुए आगे कदम बढ़ाते और गाते जाते हैं।

ऊंची जागवु नाहरौ कीया हो मुहाला भाईयो
सुत्ता हुन्दा खोशिया जिलाकि न जाला भाईयो

नृत्य के बीच में कोई नर्तक बड़ी ऊंची आवाज से चिल्लाते हुए कहता है—

ऊंची जागहे रो फुलड़ू फूलौ ओ भाइयौ।
ऊंची जागहे रा खोशिया पूजा ओ भाइयौ।
खूंदो री बलि जाईलौ भाइयौ।

और शेष सारे लोग एक स्वर में शोर मचाते हुए कहते हैं—हो, हो। इस नृत्य में प्रायः युद्धगीत (वीर-गीत) ही गाये जाते हैं। यह नृत्य तब तक चलता रहता है, जब तक नर्तकदल मेले के मैदान में या मंदिर तक नहीं पहुँच जाता।

दिवाली नृत्य—यह नृत्य दिवाली से पहले या दिवाली के दिन ही प्रदर्शित होता है। यह भी पुरुषों का नृत्य है। यह नृत्य प्रायः रात को ही नाचा जाता है। खुले मैदान के मध्य में बहुत सारी लकड़ियां इकट्ठी कर उन्हें रात को जलाया जाता है और उसके चारों ओर लोग दिवाली नृत्य नाचते हैं। दो-दो नर्तकों की जोड़ी एक-दूसरे की कमर पर हाथ रखकर दूसरे हाथ में मशाल या रूमाल लेकर ढोल या खंजरी के साथ दिवाली के गीत गाते हुए नाचते हैं। इसमें नर्तक बारी-बारी दाएं और बाएं कदम उठाते, छलांगें लगाते हुए एक-दूसरे के पीछे-आगे बढ़ते हैं और दायरे में नाचते हैं। नृत्य के बीच कुछ अन्तराल बाद कहते हैं—

देवली बले देवलिए।

दिवाली के नृत्य-गीतों में प्रायः श्रीराम, कृष्ण और राजा बलि के यशोगीत ही अधिक गाए जाते हैं। जैसे सीताहरण पर राम का शोकाकुल होना—

रामजी लागै ओ रूंदे। रामजी लागै औ रूंदे॥
जति सति बोलदे लागै। जति सति बोलदे लागै॥
रुई नी भेड़ूआ रामा। रुई नी भेड़ुआ रामा॥
रुई नी छेवड़ी री तांई। रुई नी छेवड़ी री तांई॥
छेवड़ि आणों मि तौंई। छेवड़ी आणों मि तौंई॥

या फिर राजा बलि के विषय में यह दिवाली नृत्य-गीत गाया जाता है :

बली राजैया जौगनो तेरे
बली राजैया जौगनो तेरे
भेख तो बावणों रा कीया
भेखौ तो बावणों रा कीया।

ऐसे ही पौराणिक गीतों को स्थानीय लोक-गीतों के सांचे में ढाला गया है। दर्शक लोग इन्हें बड़ी तन्मयता से सुनते है। कभी-कभी दो दल छूले, छुलना या ठाम्बरू (खुटी) खेल भी खेलते हैं। साथ में गाते हैं—

सावसे मेरिया हनुवा वीरा।
लांकै ोधारौ दा जींवदा फीरा॥

इसमें आगे की जोड़ी की लंगड़ी देने की कोशिश करने के लिए तैयार होकर नाचती है। पिछला दल मौका पाकर लंगड़ी देकर गिराने की कोशिश करता है।

तुरिण-नृत्य

तुरिण या ढाकी नृत्य—यह नृत्य क्षेत्र से तुरिण: या ढाकिण स्त्रियां शुरू करती हैं। तूरी या ढाकी अपने क्षेत्र के देवी-देवता, राजा-राणाओं और जनता के परम्परागत लोकवादक और लोकगायक रहे हैं और उनकी स्त्रियां व्यावसायिक

रूप में नृत्य करती रही हैं। ये स्त्रियां प्रत्येक ग्राम देवता के मंदिर के सामने, अनेक बड़े घरों के सामने, चमकदार और भड़कीला चोलू या घाघरा पहनकर गाती हुई नाचती हैं और उनके पति वाद्य जैसे ढोलक, शहनाई बजाते हैं। नए-नए लोक-गीत गाकर ये अत्यन्त मनोहर नाचती हैं और इसके लिए उनको गांव वाले कुछ अनाज और खाना प्रत्येक उत्सव और त्यौहार पर देते हैं।

युद्ध नृत्य या ठोडा नृत्य—यह नृत्य केवल कुछ विशेष मेलों पर ही किया जाता है। इस नृत्य में धनुष-बाण चलाने में दक्ष पुरुष ही भाग लेते हैं। वे ऊनी कपड़े का चूड़ीदार सुथन (पाजामा) और उसके अन्दर चमड़े की पेटी बांधकर नृत्य करते हैं। इसमें लोक-गीत भी कभी-कभी गाये जाते हैं। इस नृत्य के लिए लोक-वाद्य की ताल और लय युद्ध के बाजों की तरह होती है, जिसे ठठोईर कहते हैं। इस नृत्य में भाग लेने वालों को ठठोरी कहते हैं। नगाड़ा, ढोलक, गुज्जू, शहनाई और करनाल लोक-वाद्य बजाये जाते हैं। इसमें नर्तकों के दो दल शाठा और पाशा बन जाते हैं। ठठोईर खेलने वाले नाचते हुए धनुष तानकर, बाण (शरी) अपने सामने वाले उछलते हुए ठठोरी, जो नाचता हुआ अपने बाप-दादा, गाँव-देवता या इलाके का नाम लेता हुआ उछलता है और चीख मारकर अपने प्रतिद्वन्दी को ललकारता है, "गुरु पूजा मेरिया तेरी जूबड़ी दा" और यदि शरी न लगे तो दूसरा ठठोरी ऐसे ही ललकारता है : "ही, ही, सीधी टुलके मैरियै षटवाहणीये मेरी जुबड़ी दी।" लोक-नृत्य का रंग इसी तरह धीरे-धीरे चढ़ता जाता है। इसी तरह अनेक जोड़ियां नाचती रहती हैं। जो थक जाते हैं, उनका स्थान दूसरे जोड़े ले लेते हैं।

जोली (भटैयू) नृत्य—लोक-नृत्य वैशाख की संक्रान्ति से प्रारम्भ किया जाता है। इसमें खंजरी के अतिरिक्त अन्य कोई वाद्य नहीं बजता। यह नृत्य परम्परा अनुसार इस क्षेत्र के हरिजन एकत्र होकर देव-मंदिर के सामने पहले देवता की यशोगाथा गाते हैं, फिर स्थानीय वीर पुरुषों और सती स्त्रियों की वीरगाथा गाते हैं। यह सिलसिला कई दिनों तक चलता है। इस नृत्य में सभी नर्तक एक गोल दायरे में खड़े हो जाते हैं और गीत के साथ खंजरी बजाते हुए नाचते हैं। दो नर्तक आरम्भ में गाते हैं और शेष नर्तक उन पंक्तियों को दोहराते हैं। इस नृत्य में नर्तक शरीर के ऊपर का भाग नचाता है। लोग एक-दूसरे के पीछे बाएं से दाएं ओर नाचते हुए चलते हैं और गाते हुए कभी-कभी खड़े होकर दायरे के भीतर की तरफ मुंह करके खंजरी बजा-बजाकर गाते रहते हैं। दर्शकों में से यदि किसी के परिवार के व्यक्ति की गाथा गाई जाती है तो वह खुश होकर गायक को इनाम देता है। शाम को श्रेष्ठ गायकों को पगड़ी पहनाई जाती है और कुछ पैसे और अनाज भी दिया जाता है। सभी गायकों को गांव वाले या देवता के भण्डार से खाना मिलता है। जोली नृत्य में गाये जाने वाले

कथा-गीतों की प्रथम पंक्तियां इसी प्रकार शुरू होती हैं :

मूले री मलाईए होलि केहरी मलाई।
कोटे गाणि कांगड़े, हाठो रि दुर्गा माई॥

यह नृत्य, प्राय: दिन को ही होता है और केवल पुरुष ही इसमें भाग लेते हैं।

मुन्जरा नृत्य—यह नृत्य भी शिमला और सिरमौर क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय है। मुन्जरा नृत्य घरों के बाहर ही नहीं घरों के भीतर भी संभव है। इसमें भी प्राय: पुरुष ही नाचते हैं। इस नृत्य में सब गायक, नर्तक और दर्शक एक गोल दायरे में बैठ जाते हैं। गायक दो जोड़ी में बँट जाते हैं। पहली जोड़ी मुन्जरा लोक-नृत्य की पंक्तियां गाती है और दूसरी जोड़ी उन पंक्तियों को दोहरा भर लेती है। दोनों जोड़ियां खंजरी बजाती हैं। अन्य वाद्य की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि ढोलकी का सहारा भी ले लिया जाता है। खंजरी की लोक-धुन और गीत की मधुर तान के बीच नर्तक धीरे-धीरे उठता है और शरीर के प्रत्येक अंग और विशेषकर हाथों को लहराता हुआ नाचता है। दर्शक मन्त्रमुग्ध होकर ताल और लय पर उनके सुन्दर अंग-संचालन को देखते हैं। यह नृत्य अन्य उत्सवों के अतिरिक्त शिवरात्रि के भजनों के साथ भी नाचा जाता है। यह नृत्य भी इन क्षेत्रों के अत्यन्त लोकप्रिय नृत्यों में से है।

देव-नृत्य—दो दक्ष नर्तक हाथ में देवता का चौंर लेकर कन्धे पर देवता की पालकी लोक-धुन की ताल पर नचाते हैं और दर्शक उनके इस मनोहर नृत्य को उठाते है। देवता की पालकी इधर-उधर झुलाते हैं।
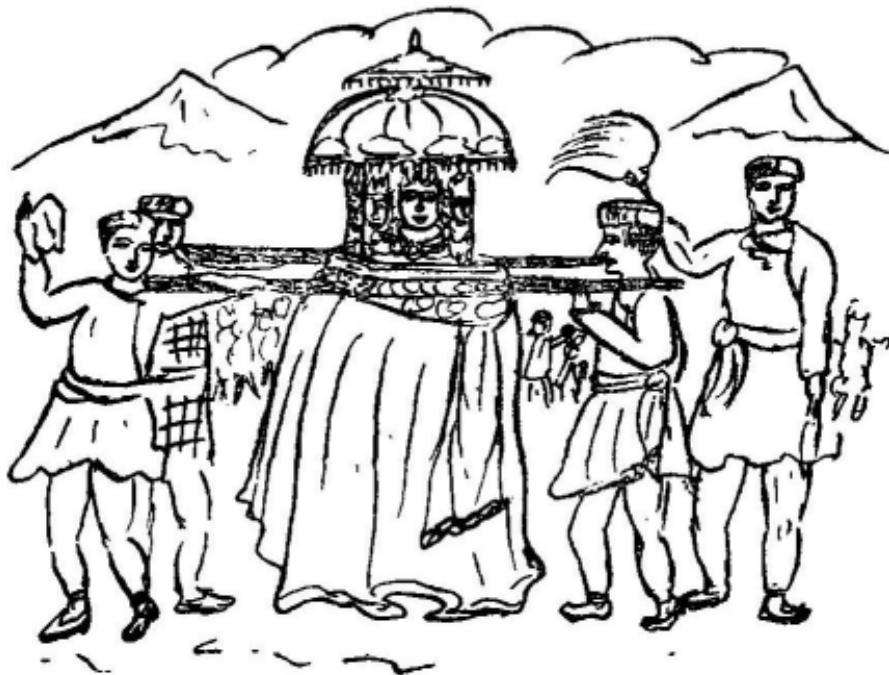
देव-नृत्य

सिरमौर के लोक-नृत्य

चूड़ी दा पौड़ी रौही हिंयौ, कि मामा मेरा,
लागा पहाड़ौ दा जियौ, कि मामा मेरा,
एरी बोलौ सोयेणौ पांडा थानो बागौ,
गाये लाणं साके लाई लेणी नारी रागौ, कि मामा मेरा।

—लोकगीत

जिला सिरमौर का क्षेत्र मुख्यतः पहाड़ी क्षेत्र है और १५ अप्रैल, १९४८ तक एक पहाड़ी रियासत था। इसके पूर्वी भाग को यमुना और तांस नदियां देहरादून (उत्तर प्रदेश) से अलग करती हैं तथा दक्षिणी भाग को जगाधरी और नारायणगढ़ (हरियाणा) का क्षेत्र स्पर्श करता है। इसका पश्चिमी तथा उत्तरी भाग जिला शिमला और सोलन जिलों से मिलता है। ११४१ वर्ग-मील का यह जिला समुद्र तल से लगभग एक हजार फुट से लेकर १२ हजार फुट तक की ऊंचाई वाले क्षेत्र में अब भी सैकड़ों वर्षों की टूटी हुई सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक बिखरी कड़ियां समेटे हुए है। सिरमौर का अधिक भाग चूंकि शिमला ज़िला से संलग्न है, इसलिए इसके पहाड़ी क्षेत्र का अधिक सामाजिक, सांस्कृतिक और आदान-प्रदान शिमला के पहाड़ी क्षेत्र के लोक-जीवन के साथ हुआ है।

सिरमौर के लोग सादा, कठिन परिश्रम, शांतिप्रिय और धार्मिक निष्ठा से भरपूर हैं। वर्ष-भर के कठिन जीवन में सरसता लाने के लिए समय-समय पर लोक-गीत, लोक-धुन और लोक-नृत्य इस क्षेत्र का मुख्य लोक-मनोरंजन का साधन है।

इस क्षेत्र में लोक-नृत्यों में अधिकतर पुरुष ही नाचते हैं। कहीं स्त्रियां भी नाचती हैं। स्त्रियों के नृत्य करने की भी एक परम्परा है। जिस गांव में भी लोक-नृत्य होता है उस गांव की बेटियां (धैन्टी) जो अन्य गाँव में विवाहित होती हैं या अविवाहित होती हैं, वही उस गांव में नाच सकती हैं, अन्य नहीं। पर कहीं-कहीं अब यह बंधन नहीं और सभी स्त्री-पुरुष साथ भी नाच लेते हैं।

सिरमौर के लोक-नृत्यों में मुख्य हैं—गीह, नाटी, ठठईर, रास, स्वागटे, बूढ़ा इत्यादि। इनके अतिरिक्त अन्य पहाड़ी लोक-नृत्य भी बड़े चाव से प्रदर्शित किए जाते हैं।

गीह नृत्य—गीह का सीधा सम्बन्ध हमारी हृदय गति से है। ढोलक, खंजरी, खड़ताली वाद्यवृन्द हैं। गीह में पांच तालियां लगती हैं। १, २, ३, खाली ४, ५। गीह मुंजरे (महफिल) में नाचा जाता है। मुंजरा, बीशू, देव-यज्ञ, रिहाली शादी इत्यादि अवसरों पर शाम से सुबह तक लगता है। गीह गायनटी मुख्य नृत्य होता है। गीह नृत्य होता है। गीह नृत्य में नर्तक गाने वाले के मध्य में नाचता है। चेहरे, छाती, कंधे, कमर के झुकाव और हरकतों से नाचने वाला गीत के बोलों के भाव स्पष्ट करता है। बाहें फैलाकर चक्कर मारना आवश्यक क्रम माना जाता है। मुंजरे में गीह लगाने पर बारी-बारी सभी इच्छुक नर्तक नृत्य करते हैं। कभी-कभी ताल में झूरी सवाल-जवाब के रूप में सामाजिक कल्पना से परे तुकों में गाई और नाची जाती है।

नाटी—कुछ लोग गीह और नाटी में फर्क न मानकर एक ही नृत्य मानते हैं। किन्तु नाटी गीत का विलम्बित ताल है। नाटी को सभी गीह नाचने वाले नर्तक या नर्तकी नहीं नाच सकते। नाटी शहनाई, ढोल छटी डंके पर, बड़े धीमे से नाची जाती है। नर्तक भावपूर्ण शैली में गीत के बोलों की अभिव्यक्ति करता है। नर्तक का चक्कर लगाना यहां भी अनिवार्य है।

ठठईर नृत्य—ठठईर रथेवला ताल में नाचा जाता है। क्योंकि कभी एक कबीला दूसरे कबीले या जाति का दुश्मन रहा है। जब लोग एक-दूसरे पर हमले के लिए जाते थे तो यह रथेवला ताल बजाया जाता था। लोग हाथ में डांगरू (गंडासा) डण्डा, तीर-कमान लेकर नाचते-झूमते ललकारते हुए प्रतिद्वन्द्वी की ओर बढ़ते थे। आज भी बीशू, रिहाली, जान, मोण में लोग रथेवले में नाचकर एक विशेष स्थान में जाते हैं। यह नाचने वाले अलग-अलग होते हैं जिन्हें खून्द कहते हैं। ये खून्द कुछ शाठा कुछ पांशा होते हैं। फिर मोटे-मोटे पायजामे पहनकर कमान से एक-दूसरे पर टांगों में गोडे पर निशाना लगाते हैं। निशाना लगाने पर निशानची बड़े झूम-झूमकर हाथ में कमान उठाए नाचता है।

रासा नृत्य—यह नृत्य क्रमबद्ध नाचने का रूप है। लम्बी कतार में कदमों को आगे-पीछे ताल में रखकर नाचते हैं। साथ झूमना, बैठना, मुड़ना आवश्यक नृत्य विधि है। रिहाली, दिवाली में यह नृत्य दिन के समय या रात में खुले आंगन में किया जाता है। यह नृत्य एकता का प्रतीक है। अनुशासन का सहज में ठोस स्वरूप अतीत और वर्तमान के सम्बन्धों को मजबूत कर भविष्य में संगठन की साकार कल्पना लिए यह नृत्य मनोरंजन प्रदान करता है।

स्वागटेगी नृत्य—यह नृत्य दिवाली का नृत्य है। दिवाली, बड़ी

दिवाली, चड़ेबली, इत्यादि में लोग स्वांग लगाते हैं और हुड़क, नकारा, दमामा के साथ झूम-झूमकर नाचते हैं। शेर, बाघ इत्यादि जानवरों के लकड़ी के मुखौटे पहनकर जंगली जानवरों का वेश बदलते हैं और उछल-उछलकर नाचते-गाते हैं। नर्तक जंगली के रूप में स्वच्छन्दता से नृत्य करता है। दिवाली आदि पर्व पर गांव की औरतें मुखौटे पहने हुए व्यक्ति को अखरोट भेंट करती हैं।

घरेवणी नृत्य—यह नृत्य केवल देव नृत्य माना जाता है। जब देवता किसी व्यक्ति में आता है, तो वह घरेवणी लोक, ताल में बेसुध नाचता है। इस क्रम को हिंगरना, आंधरना कहते हैं। जातरा, शांत, चेरशी देव कार्य होते हैं। शुभ अवसरों पर यह देव-नृत्य होता है। सामान्य अवसर पर किसी भी व्यक्ति द्वारा घरेवणी में नाचना देव अवज्ञा मानते हैं।

द्रौढ़ी नृत्य—यह भी देव-नृत्य है। पांजड़ा, भारतों, पोआड़ा गाने पर पाप, नेवा, देवी इत्यादि कई छोटे-छोटे देवी-देवते हिंगरते हैं। हुलकी या हुडक, खन्जरी लिए गाने वाले भी झूम-झूमकर नाचते रहते हैं। यह इष्ट देव की मानता के लिए घर में ही आयोजित होता है। मनोरंजन का सामान्य क्रम नहीं होता। यह किसी कार्य सफलता की मानता होती है। द्रौढ़ी हरिजनों में देव अराधना हेतु देव-यज्ञ माना जाता है।

पड़वा नृत्य—यह नृत्य शादी के अवसर पर किया जाता है। औरतें नाटी, गिधे नाचती हैं। यह केवल औरतों का नाच है। मर्द इस नृत्य में नर्तन नहीं करते।

बूढ़ा नृत्य—इस लोक-नृत्य में १० से १५ तक नर्तक भाग लेते हैं। तीन या चार लोकवादक हुड़क वाद्य बजाते हैं और शेष नर्तक डांगरें हाथ में लेकर और उन्हें घुमाते हुए नाचते हैं। नर्तक स्वयं भी नृत्य-गीत गाते हैं। इस नृत्य में शरीर को हिलाना, कदम, ताल, तलवार या डांगरा हवा में घुमाना, गोलाकार दायरे में नाचना, गाना और कूदना शामिल है।

थाली नृत्य—वैसे तो यह नृत्य जोनसार बावर में अधिक लोकप्रिय है, किन्तु शिमला और सिरमौर के कुछ क्षेत्रों में यह लोक-नृत्य कभी-कभी प्रदर्शित होता है। कांसे की थाली हाथ में लेकर नर्तक एक दायरे में आगे और पीछे झुकते हुए छोटे और धीमे पग रखते हुए मिलकर गाते हुए नाचते हैं। यह नृत्य प्रायः बसंत ऋतु या किसी उत्सव पर नाचते हैं।

इसके अतिरिक्त सिरमौर और शिमला के जनपदीय क्षेत्र में करियाला लोक-नाट्य में भी अनेक लोक-नृत्यों का प्रदर्शन होता है।

इसी प्रकार के अन्य लोक-नृत्य यहां के लोक-जीवन में नया उत्साह, नये प्राणों का संचार करते हैं।

लोक-नर्तकों की वेष-भूषा

रंग-रंग के चीरों से भर अंग, चीरवासा-से
दैन्य शून्य में अप्रतिहत जीवन की अभिलाषा से
—पंत

विशेष अवसर के लिए लोक-नर्तक दल बढ़िया किस्म के आकर्षक रंग-बिरंगे वस्त्र आभूषण पहनते हैं। परन्तु उनमें स्थानीय छाप अवश्य रहती है। इसी प्रकार आभूषणों का अविष्कार भी निश्चय ही मनुष्य की अपने को सजाने की सहज प्रवृत्ति के ही कारण हुआ होगा। साधारण जनता के प्राकृतिक वातावरण की वस्तुओं फूलों, जंगली पत्तों, बेलों, वनस्पतियों, पशु की खालों और पक्षियों के पंखों को आभूषणों में परिणत कर दिया गया। आज तक अनेक जनजातियों द्वारा खालों, परों, फलों, इत्यादि का उपयोग सजावट के काम के लिए किया जाता है। यह जातीय सजावट लोक-नृत्यों के अवसर पर प्रायः देखने को मिलती है।

इन नर्तकों की वेष-भूषा को पांच भागों में बांटा जा सकता है। पहला, सिर जिसमें टोपी, पगड़ी, चादर और धाटु (थीपू) आते हैं। दूसरा, छाती का जिसमें स्त्रियों की अंगिया, सदरी, पुरुषों का जैकट इत्यादि, तीसरे, छाती से कमर तक के, इसमें कोट, अचकन, पटु शाल, कुरता, रेजटा इत्यादि गिने जा सकते हैं। चौथे, कमर से घुटने तक जिसमें पाजामा, सलवार धोती और पांचवें, पांव के जूते, लैंटे, पूले, जुराब इत्यादि का वर्णन किया जा सकता है।

प्रायः ऋतु अनुसार नर्तक सूती या ऊनी, नए चमकीले और भड़कीले वस्त्र पहनते हैं। ऊनी वस्त्र ५००० फुट से ऊंची जगह पर ही पहने जाते हैं। कांगड़ा मंडी सुकेत, बिलासपुर इत्यादि में नर्तक प्रायः खद्दर या रेशमी कुर्ता व तंग पजामा, सिर पर टोपी साधारण-सा कपड़ा, कन्धे पर छोटा लाल रंग का कपड़ा, कभी-कभी लट्ठा या पापलीन की कमीज और बोस्की का पजामा तथा संतरी

रंग की पगड़ी पहनते हैं। गले में सोने का जेवर सिंगी डालते हैं और कानों में नतियां। महिलाएं चूड़ीदार पजामा या काली सलवार, चांदी का लम्बा हार (जैसे गहने) ऊंचा चाक, हाथों में गजरू, कानों में बालियां (सोने या चांदी की) कांटे, नाक व नथ, लोंग, तीली, माथे पर सिंगार पट्टी, हाथों में चूड़ियां, हार, मुरकू पहनते हैं। पांव में झांझर या पाजेब डाली जाती हैं।

सोलन शिमला और सिरमौर में पुरुष गर्म कोट (चोलटी) अंगरखा, झुगा लुइया, गाची (कमरबन्द) टोपी, चूड़ीदार पजामा, (सुथन) पहनते हैं और स्त्रियां टालकू या धाटू, चमकीला कुर्ता, चूड़ीदार पजामा, गर्म या सूती कोट, रेजटा और अन्य अलंकार पहनती हैं। जेवरों में प्रायः पाजेब (तोड़), हाथों में कड़े, घुंघरुवाली चूड़ियां छले, बाले, अंगूठी (मुन्दरी), गजरे, कांच की रंगीन चूड़ियां गले में पांच लड़ियों का हार, चांदी और मूंगे के दाने से बनी कंठी, चाक, माथे पर बिन्दी और चार लड़ी की शृंगार पट्टी, कानों में बालियां, कांटे और नाक में सोने का चौड़ा लोंग (बेसर), सोने की मुर्की और नथ पहनती हैं।

शिमला के कुछ क्षेत्र में नर्तक दल चोगा, सफेद अचकन चूड़ीदार पाजामा, सफेद पगड़ी, कलगी मुकट (जिसे सामने से बांधते हैं) से सजधज कर नाचते हैं। कई बार अचकन या जैकेट, चूड़ीदार पजामा और बुशहरी टोपी पहनते हैं।

कुल्लू के नर्तक दल और कहीं-कहीं मण्डी के ग्रामीण क्षेत्र के नर्तकदल प्रायः अपने हाथ से बुने गोलाकार की कलगीदार काली टोपी और उसके किनारों पर फूलों या चांदी की सुनहरी झालर और मृणाल पक्षी की कलगी की शोभा देखते ही बनती है। सफेद लम्बा कोट और चूड़ीदार पाजामा,लाल, पीला, भूरा ऊनी कटि कमरबन्द, तुणकी, दुपट्टे के साथ पहनते हैं। शरीर पर लच्छे, फरोड़, सिर पर प्रायः धाटू (थीपू) पहनती हैं।

किन्नौर और लाहौल स्पिति की स्त्रियां अपनी परम्परागत फूलों से सुसज्जित टोपियां पहनती हैं। फूलों की मालाएं तो प्रायः सभी क्षेत्र के नर्तक दल गले और सिर में पहनना पसन्द करते हैं।

कुल्लू और किन्नौर जिलों की स्त्रियां अपनी टोपियों के दोनों ओर पीपल पत्र नाम का एक गहना पहनती हैं, जो पीपल पत्र के आकार की चांदी का बना होता है और चांदी के ही एक मीनाकारी लिए हुए खंडों पर कसा रहता है। इस गहने से स्त्रियों के चेहरे पर एक आभा सी झिलमलाती रहती है। इनके हार धातुओं की बड़ी-बड़ी पतरों में से काटकर बनाये जाते हैं जिन पर इस क्षेत्र की लोक परम्परागत डिजाइनों की खुदाई और हरी तथा पीली मीनाकारी रहती है। मीनाकारी की हुई इन पतरों को चन्द्रहार की चांदी की जंजीरों से जोड़ दिया जाता है।

कुल्लू के नाच वाले गहनों में बड़ी नथ और एक पत्रे की बलाक वाली डिजाइन शायद ही कहीं और देखने को मिले, नाक पर सोने की बारीक लोंग और अर्धगोलाकार नलकी पर दानेदार जटिल आकृतियां अत्यन्त सुन्दर फबती हैं।

लाहौल स्पिति में नर्तक गाऊन की तरह लम्बा ऊनी चोलू और पाजामा, सिर पर विशेष प्रकार की ऊंची रंगीन टोपी, गले में मणी का हार, कानों में सोने के तुंगल, माथे पर गुंदी हुई सोने या चांदी की कढ़ी हुई दो मणियां, तंग पाजामा और बर्फ से सुरक्षा करने वाले बूट पहनते हैं। चोगा की तरह के कुरतों के साथ स्त्रियां कमरबन्द बांधती हैं और साथ जैकेट प्राय: मरुन या भूरे रंग के कपड़े अधिक पसन्द किये जाते हैं। बाल अनेक छोटी-छोटी चोटियों में गूंथे जाते हैं। पुरुष अपने कोट के दाईं ओर बटन लगाते हैं और स्त्रियां उसकी जगह डोरी बांधती हैं। स्त्रियों के पाजामे चूड़ीदार पाजामे की तरह होते हैं। औरतें प्राय: नीले और पीले जैकेट पहनती हैं और गर्मियों में शनील के कोट पहनती हैं। बौद्ध औरतें नंगे सिर रहती हैं। स्वांगला, शिपी और लौहार स्त्रियां गोल टोपियां पहनती हैं। अविवाहित लड़कियां सिर पर कुछ नहीं पहनतीं।

स्पिति क्षेत्र में पुरुष बालदार ऊंची टोपी, लिंगजिमा एक लम्बी ढीली, फ्राक या ऊन का कोट (रिगोये) या भेड़-बकरी की खाल (थकया) या सूती कपड़े के साथ बालदार (चारलाक) डोरी या किरा, ऊनी पाजामा (सुथन), लम्बे चमड़े के बूट पहनते हैं। पाजामा बूट के सिरे से इस तरह पहने जाते हैं जिससे ठण्ड नहीं पहुंचती। कुछ लोग रेशमी या सूती तोचे पहनते हैं।

स्त्रियां बैरंग, बिना बटन के पूरे स्लीप की कमीज (हजूक) एक सूती ढीली फ्राक (तोचे), ऊन के फ्राक की तरह का कोट (रिघोच) जिसके किनारे पर धारीधार रंग (थचर्क) सिला होता है और चमकदार धारीधार रेशमी सश (किरा) का कमरबन्द, ढीवकला पाजामा, ऊनी शाल (लिंगचे) बालदार ऊनी लोकपा पहनती हैं।

वृद्ध पुरुष सोने की अंगूठियां, बालियां, (मुर्की) और क्यांति पहनते हैं। नई पीढ़ी के लोग ऐसा नहीं करते। स्त्रियां प्राय: चांदी के अलंकार अधिक पहनती हैं। लाहौली स्त्रियां माला के रंग-बिरंगे मणकों से शरीर को सजाती हैं। इसी प्रकार अन्य जेवर जो वह पहनती हैं, वे हैं—डुंगक्री, क्यीरकिरस, किरकित्सी ताटका, पोशेल, फन्स, अलोंग, युतांद, छोटा-बड़ा, फुली, डुन्केत्सा, झुलनू मुतिग कांति, शमशा, भंग गुईथा, बुरकी शुव, क्यांति। स्पिति के लोग सोने चांदी के जेवर पसन्द नहीं करते, वे हीरे मोती, मणके इत्यादि अधिक पहनते हैं।

हिमाचल के गद्दी नर्तक डोरा और सफेद ऊनी चोला-फरगल जो चोगे जैसा होता है पहनते हैं। फरगल के नीचे के भाग में असंख्य सलवटें पड़ी रहती हैं

और घेरा भी काफी बड़ा होता है। इस फरगल पर काली ऊनी, पशमीने या रेशमी लम्बी रस्सी से कसकर कमर लपेट लेते हैं। गले में रंगी दुपट्टा या रूमाल लपेट लेते हैं। सिर पर ऊंची पगड़ी या टोपी पहनते हैं, जिसमें पक्षियों के रंगीले एवं चमकीले पंख सुसज्जित होते हैं। चूड़ीदार पाजामा पहनकर गद्दी नर्तक स्वर, लय और ताल पर मनोहर लोकनृत्य करते हैं। स्त्री नर्तक शलवार, रंग-बिरंगा, बंगाली कुर्ता, सिर पर दुपट्टा और पैरों में पाणी पहनती हैं। कई बार तो गद्दी औरतें पुरुषों का ही पहनावा पहन लेती हैं।

पुरुष कानों में सोने की नानती, बाला, कमीज पर चांदी के बटन और सोने-चांदी की अंगूठियां पहनते हैं, स्त्रियां सिर पर चांदी का चौक, माथे पर बंदीयान जो जंजीर-सा होता है, कानों में फेर, बालबरियां, कर्णफूल पहनती हैं। नाक में सोने के बालू, लौंग, फूली, कोका, नथनि से सजाती हैं। गले में चांदी की ढडी माला, डोडमाला, लच्छा, कर पहनती है और कलाई में चांदी का टोका, कांगनू, बंगियां, पाजेब, झांझर, गुथरी, फूलू से पांव सजाती हैं।

पांगी के नर्तक प्रायः हाथ से बुने मोटे ऊन के कोट और गोल टोपी-जोजी पाजामा और पैरों में पूले पहनते हैं।

स्त्रियां कुर्ता, तंग गहरे रंग का पाजामा, कुर्ता पर ऊनी शाल पहनती हैं। जेवरों में करू, मुर्की पसन्द करती हैं।

हिमाचल प्रदेश के हर भाग में तरह-तरह की वेशभूषा का प्रचलन है। प्रत्येक क्षेत्र की एक विशिष्ट शैली है। इसी तरह अलग-अलग क्षेत्रों में गहनों की अलग-अलग डिजाइनें और उन्हें बनाने की विभिन्न प्रणालियां प्रचलित हैं। उनके लिए जिस धातु का उपयोग होता है वह उन्हें पहनने वाले की सामाजिक तथा आर्थिक हैसियत पर निर्भर करता है। उसके हिसाब से भी इन प्रणालियों का विकास हुआ है।

लोकनृत्यों के प्रदर्शन के लिए जितने आवश्यक लोकगीत और लोकवाद्य हैं, उतनी ही आवश्यक लोकनर्तक की वेशभूषा भी है। लोकनृत्यों का रूप और रंग अपने स्थानीय वेशभूषा से ही मनोहर बन पाता है। इसलिए लोकनृत्य-परम्परा में वेशभूषा की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

लोक-संगीत-वाद्य

वाद्यों के उन्मत्त घोष से, गायन स्वर से कंपित
जनइच्छा का गाढ़ चित्र कर हृदय-पटल पर अंकित;
खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में क्षण भर
जनसंस्कृति का तिग्म स्फीत सौन्दर्य स्वप्न दिखलाकर ।

—सुमित्रानंदन पंत

भारतवर्ष में संगीत और नृत्य धार्मिक श्रद्धा एवं भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति के प्रमुख रूप रहे हैं। संगीत एवं नृत्यों का आरम्भ और सम्बन्ध भी देवी-देवताओं, गन्धर्व एवं किन्नरों से जोड़ा जाता है। अपने लम्बे इतिहास में भारत में आवश्यकता अनुसार विभिन्न प्रकार के अनेक लोकवाद्यों का विकास हुआ है और समय और स्थान अनुसार उनमें परिवर्तन, संशोधन एवं परिश्रकरण भी होता रहा है। यही विकास क्रम हिमाचल प्रदेश में भी रहा। स्वर, लय, ताल मानव को स्वाभाविक रूप से आ जाते हैं। क्योंकि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु इस ओर अग्रसर होती है। यह मानव की बहुत पुरानी प्रेरणा है। वह खुशी से झूम जाता था या ईश्वर को (जिससे वह डरता) रिझाने के लिए आदि मानव का आनुष्ठानिक नृत्य उसके आवेगों को विशेष अभिव्यक्ति देता रहा है।

गीतं वाद्यं च नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते ।

इसी लय की मूल प्रेरणा ने उसे, भावनात्मक अभिव्यक्ति के अनेक रूपों को मानकीकृत करने को बाध्य किया और उसके लयात्मक वाद्यों की रचना और रूप-रेखा का निर्माण किया। आदिम मानव के नृत्यों की संगत के साधन स्वयं नर्तकों ने उपलब्ध किये। ये सदा ताल के लिए कदम, ताल या हाथों की तालियों से काम लेते रहे। कई बार यही कार्य अपनी छातियां पीटकर, पीठ या पेट बजाकर होता रहा। लय और ताल के प्रति प्रेम और इन कार्यों से शायद उसे ढोल जैसे अनेक वाद्य निर्माण की प्रेरणा मिली। स्वाभाविक रूप से कल्पना भरी और सौन्दर्य के प्रति आकर्षण के भाव के वशीभूत लोकवाद्यों में विभिन्नता भी आती रही। और इसी पर निर्भर न रहकर, मानव ने धीरे-धीरे खड़खड़ाहट का

उपयोग प्रारम्भ किया। इसी का उभरा रूप चिमटे, घुंघरू, दमामे, भाणे और खड़तालें हैं।

इसी प्रकार एक और लयात्मक वाद्य जो आदिम मानव ने उपयोग में लाना शुरू किया, वह था कदम, ताल के लिए गढ़ा। वे लोग इस गढ़े के ढक्कन पर कदमताल करते और उससे एक ऐसी ध्वनि उत्पन्न करते जो आज के नगाड़े से मिलती-जुलती थी, समय पाकर कदम की जगह लम्बे डण्डों ने ले ली और उतने बड़े गढ़े के स्थान पर धातु के अर्ध गोल वृत्ताकार ढोल पर खाल का ढक्कन खींचकर लगाकर बजाने लगे। ऐसे नगाड़े को वे भूमि दुंदभि कहकर पुकारते थे। इसका जिक्र भारत के अनेक प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है। किसी खोखली वस्तु को बजाकर अकस्मात् उससे आवाज निकलते सुनकर उसके मन में कल्पना जागृत हुई होगी कि किसी खोखली लकड़ी पर खाल लगाकर ढ़ोल की तरह आवाज निकाली जा सकती है। ढप, खंजरी, डमरू, तम्बूरा, पेटी, ढोलक इत्यादि का विकास इसी कल्पना का परिष्कृत रूप हो सकता है। इन सब लोकवाद्यों के छोटे-बड़े, लम्बे-चौड़े, गोल चौकोर आकार आवश्यकता एवं सुविधा अनुसार बनते, बिगड़ते, परिष्कृत होते रहे। मानव सभ्यता विकसित होती रही, पर मानव को इन्हीं वाद्यों में बांसुरी इत्यादि भी विशेष उत्सवों की घोषणा एवं अन्य कार्य के लिए वाद्य जानते, देखते-सुनते हैं, यह सब मानव-बुद्धि-विकास के साथ-साथ विकसित होते रहे। इन वाद्यों को लोकगीतों की धुनों एवं नृत्यों में स्फूर्ति लाने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा। वास्तव में वाद्यकला किसी अन्य कला पर आश्रित रही है।

भारत के अन्य भागों के लोकवाद्य की तरह हिमाचल प्रदेश में प्रचलित संगीत वाद्यों का वर्गीकरण विद्वानों ने चार शीर्षकों के अन्तर्गत ही किया है। तत् वाद्य, सुशिर वाद्य, अवनध वाद्यघनवाद्य। हिमाचल प्रदेश के सभी वाद्य इस वर्गीकरण के अन्तर्गत आते हैं। यहां पर केवल उन्हीं लोकवाद्यों का परिचय दिया जा रहा है, जिनका हिमाचल प्रदेश के लोकनृत्यों के साथ सीधा सम्बन्ध है। फिर भी यह सूची अपने-आपमें पूर्ण नहीं है। लोक-वाद्यों से अभिप्रायः ऐसे वाद्य-यन्त्रों से है, जो दीर्घ परम्परा के रूप में उपयोग में लाये जाते रहे हैं और जिनका निर्माण भी स्थानीय वस्तुओं से स्थानीय कलाकारों द्वारा होता रहा है।

इनमें से कुछ लोक-वाद्यों का जिक्र लोकगीत की कुछ पंक्तियों में भी यत्र-तत्र मिलता है जैसे—

रामो री आरती हुइ रे
जोड़ीये नौबजौ बाजीरे
ढप लागा मुरली रा बाजा रे
खारि कौरा दारुए मुहाला रे

लाइयौ मुनुएकिन्द्री, रूणो मोरो ले हे गुणौ।
कुणियो रामो रे भीतरो मेरी किन्द्री शुणो ॥
(पहाड़ी लोकरामायण)

वर्गीकरण अनुसार हिमाचल प्रदेश के लोकवाद्य विशेषकर जो अब तक प्रचलित और लोकप्रिय हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं।
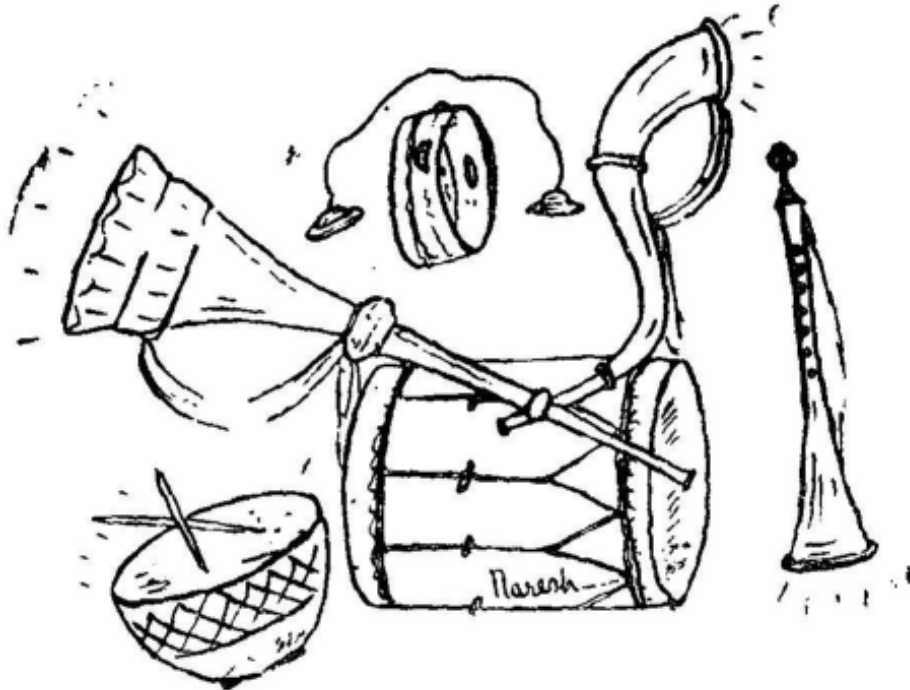
हिमाचली लोकवाद्य

(१)	(२)	(३)	(४)
(क) घन वाद्य	(ख) अवनद्ध वाद्य	(ग) सुसिर वाद्य	(घ) तत् वाद्य
थाली (तसली)	डमरू (डोरु)	नरसिंहा, शंख	किन्दरी
घुंघरू	खंजरी, डफ	करनाल	(किंगरी, किनरी)
खड़ताल	नगाड़ा	बांसुरी	ग्राम्यङ
चिमटा	ढोलक, ढोलकी	शहनाई	सारंगी
घन्टी, घन्टा	डफरा, डाकरू	विशनी	रबाना
ताल (ताली)	दमामटू दमामा	काहली (कावली)	रबाब
झांझ	घड़ा	काबरी	एकतारा
मंजीरा	धौंसा	लगोजू	चिकारा
घड़ियाल	डफाल		सितार

भाणा	बाम	भेरी (तुरही)	दिलरूबा
झुनझुना	गुज्जू	पोगा या पोगड़ी	तानपुरा
मुरचंग	बड़ा ढोल		जुमड़
खड़ताल	ढाकली		
कोकाठा	होलक		
	तुङ्युङ		
	हुड़क		

(क) **घन वाद्य**—हिमाचल प्रदेश के लोकप्रिय घन वाद्यों में थाली (तसली) भाणो, घुंघरू, ताली, करताल और चिमटा गिने जा सकते हैं।

इनमें से कुछ लोकवाद्यों का प्रयोग केवल धार्मिक लोक-नृत्यों के लिए ही होता है। जैसे थाली, भाणो, घुंघरू, शंख, चिमटा, नरसिंगा, करताल और ताली इत्यादि। इसी प्रकार तलवार नृत्य, रास और उससे मिलते-जुलते नृत्यों में घन वाद्यों का ही अधिक प्रयोग होता है। लोक-जीवन में थाली दैनिक प्रयोग की वस्तु है। नर्तन के समय अन्य वाद्यों के साथ लय पर इसका स्वर मधुरता घोल देता है। थाली तसली की तरह इस वाद्य में एक कोने में छेद कर हाथ में पकड़ने की लोहे की तार उसमें डालकर बायें हाथ से पकड़कर दायें हाथ के डण्डे से इसे बजाया जाता है।

जली हुई मिट्टी से बनी मटकी या घड़ा थाली की तरह दैनिक उपयोग का बर्तन है। इसके पेट पर दायें हाथ से चोट की जाती है और बांया हाथ इसके खुले मुंह पर रखा जाता है। पर यह अधिक लोकप्रिय वाद्य नहीं। घुंघरू भी हिमाचल प्रदेश के स्त्री-लोकनृत्य का एक अभिन्न अंग हैं। एड़ी पर घुंघरू बांधकर संगीतात्मक लय में नाचते हुए ये सुमधुर ध्वनि उत्पन्न करते हैं।

चिमटा और घन्टी प्रायः धार्मिक कीर्तन और नर्तन में अधिक उपयोग में लाए जाते हैं।

ताल या ताली हिमाचल प्रदेश के साधारण लोक वाद्य में प्रायः बजाया जाता है। यह मिश्रधातु का चौकोर ढक्कन-सा होता है। दोनों हाथ में इसके दोनों भाग लेकर टकरा कर बजाया जाता है। इनकी लयात्मक उपयोगिता सीमित है। स्पष्टतः लोक-नृत्यों में घन-वाद्यों का भी योगदान है।

(ख) **अवनध वाद्य**—अवनध वाद्यों का प्रारम्भ भी देवमाला में शिवजी के डमरू से जोड़ा जाता है। कहते हैं भगवान शिवजी ने इसे विराट नृत्य के समय बजाया था। इन वाद्यों के अन्तर्गत हिमाचल प्रदेश के अनेक लोक-वाद्य आते हैं हैं जैसे डमरू या डाँरू, खंजरी डफ, नगाड़ा ढोल, ढोलक, दमामटू, होलक, गुज्जू इत्यादि। यह सभी लोक-वाद्य यहां के लोक-संगीत एवं लोक-नृत्यों में महत्त्वपूर्ण

भूमिका निभाते हैं।

डमरू—डमरू छोटा ढोलक है, जो रेत घड़ी की तरह होता है। हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों में इसे डाँरू भी कहते हैं। इसकी लम्बाई ६ इंच से लेकर १ फुट तक होती है। धातु या डाट का छोटा गोला एक धागे से बांधकर उस धागे को डमरू की पतली कमर में घुमाकर दोनों सिरे के मध्य तक पहुँचाया जाता है। दोनों सिरे चर्म पत्र में ढके होते हैं। दायें हाथ में पकड़कर इधर-उधर ताल में घुमाया जाता है। जैसे ही डमरू हिलने लगता है धागे के अन्त में बँधे हुए डाट सिर पर बँधे चर्म पत्र के मध्य में बारी-बारी से टकराकर मधुर ध्वनि निकालते हैं। इन्हें इच्छा अनुसार ढीला या कसा जा सकता है। हिमाचल प्रदेश में सभी प्रकार के लोक-संगीत और लोक-नृत्यों में इसे उपयोग में लाया जाता है।

किन्नौर और लाहौल स्पिति में लामा लोग धार्मिक पूजा एवं नृत्यों के लिए भी इसका प्रयोग करते हैं। गुज्जू भी डमरू या डाँरू की तरह का वाद्य है। इसके दोनों सिरे भी चर्म से ढक कर सूत की डोरी से कसे जाते हैं। इसे बाँये कंधे लटकाकर कभी बायां हाथ मध्य भाग पर रखकर उंगलियों से उसमें इच्छित ध्वनि निकाली जाती है और दायें हाथ से छोटी पतली और मुड़े हुए डण्डे से बजाया जाता है। दोनों ओर से कसी हुई डोरियों को भी इच्छित ध्वनि निकालने के लिए कसा या ढीला किया जाता है।

इसी प्रकार इन्हीं से मिलते-जुलते अन्य वाद्यों में डफरा जैसे अवनध लोक-वाद्यों के नाम लिए जा सकते हैं, जो अब अधिक प्रचलित नहीं।

खंजरी—हिमाचल प्रदेश में शिमला, सिरमौर, मण्डी और कुल्लू के ग्रामीण क्षेत्र में जितनी अधिक लोकप्रिय खंजरी है, उतना अन्य कोई लोकवाद्य नहीं। इसका कारण इसकी सरल बनावट, रखने और बजाने की सुविधा भी है। वैसे भी खंजरी सम्भवतः सबसे पुराने समाघात लोकवाद्यों में से एक है। इसका उपयोग धार्मिक एवं अन्य प्रकार के लोक-गीतों और लोक-नृत्यों के साथ किया जाता है।

इसकी बनावट बड़ी सादा है। इस पर गोलाकार के लकड़ी के चौखटे पर एक तरफ चरम-पत्र कसकर लगाया जाता है। दूसरी तरफ खाली रहती है। इसका घेरा १० इंच से लेकर १४ इंच तक होता है और चौड़ाई २ इंच से ३ इंच तक। इस चौखट की परत आधा इंच से लेकर दो इंच तक मोटी होती है। इसके चौखटे के मध्य में दो या तीन इंच लम्बे और एक या डेढ़ इंच लम्बोतरे सुराख में लोहे की मजबूत तार में धातु के कुछ गोलाकार के छोटे-छोटे टुकड़े जोड़े आते हैं। खंजरी के हिलते ही या बजाते समय इनसे छनछनाहट की सुमधुर ध्वनि निकलती है। बायें हाथ में खंजरी पकड़कर दायें हाथ की उंगली और

हथेली से थपक लगाकर लोक-संगीत की लय अनुसार ध्वनि निकाली जा सकती है।

डफ—डफ भी खंजरी से मिलता-जुलता कुछ बड़े आकार का ढोल परिवार का लोकवाद्य है। यह भी खंजरी की तरह गोलाकार के लकड़ी के चौखट पर किसी जानवर की खाल कसकर जोड़कर बनता है। दूसरी तरफ खाली रहता है। यह हाथ या लकड़ी के डंडे दोनों से बजाया जा सकता है। इसका घेरा ३ फुट तक और चौड़ाई ४ इंच से ६ इंच तक होती है।

नगाड़ा—नगाड़ा को कई जगह नगारा या नकारा भी कहते है। यह भी पुराने लोक-वाद्यों में से एक वाद्य है। इसके प्राचीन रूप भेरी और दुन्दुभी थे। यह विभिन्न आकार का होता है। बड़े नगाड़े प्रदेश के मन्दिरों में एक ही स्थान पर रहते हैं। अर्द्धगोलाकार के यह नगाड़े तांबे, पीतल या लोहे के बने होते हैं। धातु के बने अर्द्धगोलाकार पर चर्म, मजबूत रस्सियों या चमड़े के डोरी से कसा जाता है। लकड़ी के बने छोटे डण्डों से इसे बजाया जाता है, जिसमें गहरी और शानदार ध्वनि निकलती है। नगाड़ों के जोड़ों में एक छोटा होता है और दोनों में विभिन्न प्रकार की ध्वनि प्रसारित होती है। देवयात्रा के समय दोनों एक व्यक्ति पीठ पर उठाकर, वादक इन्हें परम्परागत ढंग की ताल और लय पर बजाता है। हिमाचल प्रदेश में प्रत्येक गांव के मन्दिर में ढोल, नगाड़े और शहनाई अवश्य होते हैं। कहीं तो यह सुबह-शाम पूजा के अवसर पर बजाये जाते हैं, पर विशेष उत्सवों और त्यौहारों में इन्हें लोक-नृत्य के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है। नगाड़े की जोड़ी के साथ जब ढोलकी, ढोल और शहनाई बजते हैं तो वातावरण में एक दिव्य आनन्द की लहर-सी फैल जाती है।

ढोल—नगाड़ों के साथ ढोल का होना भी जरूरी है। ढोल का लोक-संगीत और नृत्यों से गहरा सम्बन्ध है। ढोल पर जब लयात्मक थाप पड़ती है तो नर्तक-दल का दिल झूम उठता है। ढोल विभिन्न प्रकार और आकार के होते हैं। गोलाकार की मोटी और लम्बी विशेष प्रकार की लकड़ी, पीतल या अन्य धातु के खोल बनाकर दोनों ओर चर्मपत्र, रस्सी या चमड़े की पट्टी से कसकर बांधे जाते हैं जिससे इसे दोनों सिरों से कसकर इच्छित ताल या लय निकाला जा सकता है, दायें हाथ में छोटा, पतला डण्डा लेकर बजाते हैं और बायें हाथ की थपकी से।

ढोलक—स्थानीय लोग बड़े आकार के वाद्य को ढोल और उससे छोटे को ढोलक या ढोलकी बोलते हैं। बनावट में कोई अन्तर नहीं होता। ढोलक कभी लोक-संगीत और कीर्तन में हाथ की थपकी से भी बजाया जाता है। स्वर और लय की दृष्टि से भी ढोलक को ढोल से भी श्रेष्ठ समझा जाता है। जहां ढोल घर से बाहर ही बजाया जाता है वहां ढोलक छोटे-बड़े घरों में भी बजायी जा

सकती है ।

सुशिर वाद्य—भारत में हाथों से बजने वाले लोकवाद्य अधिक महत्त्वपूर्ण और अधिक प्राथमिक या सादा रूप में मिलते हैं। इनके प्रारम्भिक रूप में महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। इनमें से अधिक का महत्त्व देव मन्दिरों या राजा महाराजाओं के दरबारों में होता था।

शंख—यह हिमाचल प्रदेश में प्रत्येक मन्दिरों और घरों में पूजा के स्थान पर प्रायः रखा जाता है। प्रत्येक देव-पूजा शंख की तीव्र ध्वनि से उद्घोषित होती है। यहाँ तक कि धार्मिक लोक-नृत्यों में भी इसका एक स्वर अवश्य मिलता है।

नरसिंगा—इसी तरह पूजा में उपयोग किया जाने वाला वाद्य है नरसिंगा। यह तांबे की बनी हुई दो भागों वाली नली से बना होता है। जिसमें एक ओर से बारीक सुराख बढ़कर दूसरी ओर अधिक चौड़ा हो जाता है। इन दोनों भागों को अंग्रेजी के सी या एस रूप में जोड़कर पतली दिशा को मुँह में रखकर जोर से सांस फूंककर बजाया जाता है। लोक-नृत्य में अन्तराल के बाद से बजाया जाता है।

करनाल—एक और वाद्य करनाल भी हिमाचल प्रदेश में बहुत प्रचलित लोकवाद्यों में गिना जा सकता है। कीप या छुछि के आकार का बना हुआ यह लोकवाद्य दो भागों में होता है। एक ओर से एक सिरे से तंग और दूसरे सिरे तक यह चौड़ा होता है। दोनों भागों को जोड़कर बारीक दिशा में मुखिका से फूंक भरकर बजाया जाता है। इसका ताल और लय से कोई सम्बन्ध नहीं होता और सिर्फ दूर-दूर तक किसी उत्सव या त्यौहार की घोषणा का संदेश देता है। लोक-नृत्य में इसे भी अन्तराल के बाद बजाया जाता है।

बांसुरी—यह भी एक बहुत पुराना लोकवाद्य है। श्रीकृष्ण के साथ इसका बहुत पुराना सम्बन्ध रहा। प्रायः यह बांस के सूराख से बनती है। इसमें ६ से लेकर ८ तक सीधी पंक्ति में सूराख होते हैं। एक ओर से सूराख बन्द होता है। बांसुरी विभिन्न प्रकार में होती है। बांसुरी सीधी एक ओर झुककर दोनों हाथ में होठों के नीचे पकड़ी जाती है। नियंत्रित श्वास क्रिया एवं उंगलियों के संचालन से मधुर लोक-संगीत की धुन जब वायु में गूंजती है, तो लोक-धुन की रंगीनी सभी श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देती है। लोक-नृत्य में इसका अधिक उपयोग होता है।

शहनाई—बांसुरी से भी बढ़कर शहनाई या सनाई का सुशिर लोकवाद्यों में विशेष स्थान है। यह मंगल-वाद्य प्रत्येक उत्सव, त्यौहार देवयात्रा में आवश्यक समझा जाता है। शहनाई भी एक नाली की तरह बना वाद्य है जो दूसरे सिरे तक थोड़ा-थोड़ा चौड़ा हो जाता है। इसमें प्रायः ८ या ६ छेद होते हैं, जिसमें ऊपर के सात छेद बजाने के लिए उपयोग में लाये जाते हैं। शेष बजाने वाले की

इच्छा पर स्वराघात के लिए खुले या बन्द रह सकते हैं। शहनाई की बनावट कई प्रकार की होती है। शहनाई गहरे काले रंग की साफ की हुई लकड़ी की बनी होती है और कुछ चौड़े सिरे पर धातु की गोलाकार की घण्टी होती है। इसकी लम्बाई एक फुट से दो फुट तक होती है। शहनाई में उपयोग में लाई जाने वाली कम्पिका पाला घास की बनी होती है और उसे तंग बजाने वाले सिरे पर जोड़ा जाता है। एक अन्य कम्पिका और हाथी दांत की सुई को जिनके साथ कम्पिका का सामंजस्य जोड़ा जाता है, कम्पिका के साथ संलग्न किया जाता है।

शहनाई के सात सुराखों से तो ऐसे लगता है जैसे इसके द्वारा बहुत कम ही अभिव्यक्ति मिल पायेगी। वास्तव में कम्पिका की मुखिका पर जिस तरह होंठ और जिह्वा बजाते हैं और जैसे यह सुराख खोले या बन्द किये जाते हैं उसके कारण शहनाई संगीत की आंतरिक भावनाओं को बड़े प्रभावशाली एवं आकर्षक रूप में प्रकट कर पाती है। सरल से लेकर जटिल लोक-संगीत की धुनें कुशल शहनाई-वादक इस पर बड़ी खूबी से निकालता है। हिमाचल प्रदेश में शहनाई का आकार अन्य स्थानों की अपेक्षा छोटा होता है।

शहनाई-वादन अत्यन्त जटिल विधि है। इसलिए शहनाई-वादक को वादन सीखने के लिए परिश्रम, साधना एवं समय लगाना पड़ता है। हिमाचल प्रदेश में इसके परम्परागत वादक प्रायः अनुसूचित जाति के लोग (तुरी या ढाकी) ही रहे हैं, जिनका वर्ष-भर का गुजारा इसी व्यवसाय से चलता था, परन्तु तीव्र गति से आने वाले सामाजिक परिवर्तन के कारण ऐसे दक्ष वादक धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं, मिटते जा रहे हैं। हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों में विशनी, पोगा, काहली, नाद-भेरी इत्यादि बजाने की परम्परा भी है, परन्तु इन वाद्यों का लोक-नृत्यों से अधिक सम्बन्ध नहीं है।

तत् वाद्य—तत् वाद्यों में किंदरी (किंगरी या किनरी) और सारंगी है। परन्तु जोगी, साधू, लामा इत्यादि ही धार्मिक भजन और कीर्तन या भक्तिपूर्ण नृत्यों में इनका उपयोग करते हैं। हिमाचल प्रदेश में अधिक प्रचलित एवं लोक-प्रिय लोक-नृत्यों में अब इनका अधिक स्थान नहीं रहा।

समय के अनुसार पुराने लोक-वाद्यों में परिवर्तन भी हो रहा है। रेडियो और अन्य साधनों ने लोक-परम्पराओं और लोक-नृत्यों में उथल-पुथल पैदा कर दी है। इसलिए समय की मांग है कि हिमाचल की इस समृद्ध लोक-परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए प्रभावशाली कदम उठाए जाएं। सभी लोक-वाद्यों का कला अकादमी द्वारा संग्रह एवं वर्गीकरण किया जाये। लोक-वादकों को प्रोत्साहन देने के लिए वर्ष में जिला एवं राज्य स्तर पर लोक-नृत्यों के अतिरिक्त अलग से प्रतियोगिता रखी जाये और जिला और राज्य स्तर पर उनको पुरस्कृत किया जाये। जिन लोक-वादकों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं, उनको सहायता

अनुदान देने की योजना अन्य कलाकारों के साथ बनाई जाए ताकि यहां की लोक-परम्परा की एक सुन्दर और अमूल्य निधि को लोक-मनोरंजन के लिए सुरक्षित रखा जा सके।

लोकवादक : बाजगी : बजंतरी

लोक वाद्यों के साथ-साथ हिमाचल प्रदेश की लोक-वादक-परम्परा पर प्रकाश डालना मैं उचित समझता हूं।

आज तक लोक-वाद्यों, लोकधुनों, लोक-गीतों की परम्परा को जीवित रखने का श्रेय इन आर्थिक रूप में निर्धन और सामाजिक रूप में पिछड़े अपने काम में दक्ष, अनुसूचित जाति के बाजगी लोगों को जाता है। कुछ शतक पहले इनमें से बहु-संख्यकों के पास न कोई अपनी भूमि थी और न घर। आज इनकी आर्थिक स्थिति पहले से कहीं अच्छी है और धीरे-धीरे पढ़े-लिखे लोग अपने पारम्परिक व्यवसाय को छोड़ते जा रहे हैं।

✓ भारत स्वतन्त्र होने से पहले यह लोग हिमाचल प्रदेश के प्रत्येक ग्राम देवी देवता, राजा राणा से संबंधित रहते थे। इनके खाने-पीने का प्रबंध भी ग्रामवासियों द्वारा किया जाता था। कोई उत्सव, त्यौहार, विशू, जात्रा, देवयात्रा इत्यादि के दिन आते ही यह लोग अपने व्यवसाय में जुट जाते थे। पुरुष लोग लोकवाद्य बजाने में दक्षता प्राप्त करते थे और इनकी स्त्रियां नाचने और नए गीत गाने में। इस तरह हिमाचल के लोकजीवन के लोक-मनोरंजन का मुख्य भार इनके कंधों पर था। खुशी के मौके पर ही नहीं, मृत्यु के समय भी यह लोग अपने ढोल-नगाड़े, शहनाई इत्यादि लेकर पहुंच जाते और शोक के अवसर पर लोक-धुनें बजाते थे। प्रत्येक अवसर पर इनको निश्चित रूप में अनाज और पैसे भी मिलते थे।

किसी भी प्रकार का लोक-नृत्य हो तुरिण, ढाकिन स्त्रियां लोक-वाद्यों की धुन पर नाचती हुई और गाती हुई लोक-नृत्यों में नया रंग और रस भर देतीं। वह धूरि के साथ मधुर कंठ से लोकगीत गाती हुई लोक-धुन पर नाचती हुई दर्शकों-का मन मोह लेतीं। दर्शक में से कई रुपये-पैसे भी डालते रहते और यह उनकी जय-जयकार करते उन्हें संभालते। ठंड में बाजगियों के पास आग का अलाव और हुक्का भी रहता है।

प्रत्येक संक्रांति, उत्सव, त्यौहार, देवयज्ञ और विशेष पूजा के अवसर पर उनका हाजिर होना आवश्यक समझा जाता था। हाजिर न होने पर देवी-देवता की तरफ से कारदारों की खुमली (सभा) होती और उन पर विशेष दण्ड लगाया जाता। इसलिए प्रायः वह हर अवसर पर यथासमय पहुंच जाते। केवल दण्ड का भय ही नहीं, देवी देवता के प्रकोप से भी यह लोग बहुत डरते थे। जब

कभी एक से अधिक देवी-देवता का मिलन होता और बहुत सारे दक्ष वादक इकट्ठे होते तो खूब मुकाबला होता। बारी-बारी अपनी कला का प्रदर्शन होता। यही अवसर होता जब नई वाद्य-कला, नए गीत, नए साज, नई लोकधुनों का आदान-प्रदान होता और नई पीढ़ी के लोकवादक अपने बूढ़ों से नई लोकधुनें सुनते, सीखते।

इन लोक-वादकों में हेसी (शहनाई बजाने वाला) और ढोलकी बजाने वाले की बड़ी मांग रहती है। नर्तक इन लोक-कलाकारों पर गर्व करते हैं। ये लोग पहले जन्म से होते थे अब कर्म से होते हैं। हेसी या सनाईया गीत बजाता है, ढोलकिया ताल पकड़कर पखावज की भांति दायीं-बायीं ओर को बजाकर नेतृत्व करता हैं। ढोलकी डौंडी से बनाई जाती है।

पहले इनमें शिक्षा और नैतिकता का भी अभाव था। उसका कारण उच्च वर्ग के लोगों द्वारा इनका हर रूप में शोषण था। परन्तु ऐसी बातें धीरे-धीरे मिटती जा रही हैं और उनकी जीवन-पद्धति में परिवर्तन आ रहा है। आर्थिक और सामाजिक स्तर सुधर रहा है। अब तो लोक-कला को जीवित रखने के साधन आकाशवाणी, दूरदर्शन, चित्रपट, सचित्र पुस्तकें, शोध-पत्र, ललित कला अकादमी, साहित्य अकादमी, उत्सव, समारोह और व्यक्तिगत प्रयत्न आदि रह गये हैं। भारत के प्राचीन साधन श्रुति, स्मृति, परम्परायें, रीति-रिवाज, सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप धीरे-धीरे मिटते जा रहे हैं और उनका स्थान अभी नए साधन पूर्णरूप से नहीं ले पाए।

हिमाचल के यह लोकवादक बहुत कम संख्या में अब रह गये हैं और वर्तमान पीढ़ी के बाद शायद इनमें से कोई चिराग लेकर ढूंढने से भी नहीं मिल पायेगा। इसलिए आवश्यक हो गया है कि इस कला को केवल हरिजनों में से कुछ लोगों तक ही सीमित रख देने से यह कला मिट जायेगी। क्योंकि लोक-वाद्यों का हमारे ग्रामीण समाज में आज भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसमें हृदय को स्पन्दन करने, लोकमानस को विकसित करने और लोक-मनोरंजन की शक्ति विद्यमान है। इसलिए अन्य बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित कदम अत्यन्त आवश्यक हैं।

(क) ग्राम पंचायत, ब्लाक स्तर पर वार्षिक समारोह का आयोजन कर अच्छे लोक-वादकों को प्रोत्साहित एवं पुरस्कृत करे।

(ख) ब्लाक स्तर पर पुरस्कृत कलाकारों का ज़िला स्तर पर समारोह आयोजित कर उनमें से श्रेष्ठ कलाकारों को पुरस्कृत किया जाये और श्रेष्ठ रचनाओं को टेपरिकार्डों पर रेडियो इत्यादि के लिए सुरक्षित किया जाये।

(ग) इन सब श्रेष्ठ कलाकारों को हिमाचल दिवस, स्वतन्त्रता दिवस, गणतंत्र दिवस, राजकीय युवक समारोहों और राजकीय उत्सवों पर बुलाकर

सम्मानित किया जाये। इनमें ललित कला एकादमी, लोक सम्पर्क विभाग, आकाशवाणी और दूरदर्शन केन्द्रों द्वारा भी प्रोत्साहित एवं संरक्षण प्रदान किया जा सकता है।

(घ) एक योजना के अन्तर्गत प्रदेश के इन श्रेष्ठ कलाकारों को आर्थिक सहायता की एक स्थाई योजना भी बनाई जा सकती है, जिसके अन्तर्गत कलाकार कला को जीवित भी रख सकें और स्वयं भी सम्मानपूर्वक निर्वाह कर सकें।

हिमाचल के लोकवादक

लोक-नृत्य-गीत

लोक-संगीत द्वारा सामाजिक जीवन का कोष संचित हुआ है। जनसाधारण के स्वप्न और आदर्श, उद्देश्य और कल्पना—सब-कुछ लोक-संगीत में ही मुखरित होता है। —डॉ० राधाकृष्णन

इस सत्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि लोक-गीतों में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियां गाती हैं, फसलें गाती हैं, उत्सव और मेले, ऋतुएं और परम्पराएं गाती हैं।

हिमाचल प्रदेश के लोक-नृत्यों के साथ लोक-गीत इन्हें चार चांद लगा देते हैं। निःसन्देह लोक-नृत्य और गीत का जन्म साथ-साथ संघर्ष और श्रम साधनों के अवसर पर दिखाई जाने वाली भावमयी मुद्राओं के उन चरम क्षणों से हुआ, जब जीवन का सौन्दर्य जाग उठा और गीत फूट पड़े। चिरकाल से समान उदय और प्रयोजन के कारण, हिमाचल के लोक-नृत्य और गीत लोक-जीवन के अभिन्न अंग रहे हैं और पर्वतीय सामाजिक जीवन को सचित्र, सजीव और प्रेरित करते हुए लोक-नृत्य गीतों से विभूषित हैं। इनका सरल प्रवाहमान संगीत, नृत्य की ताल, लय को कला प्रदान करता है और तब दर्शक की आत्मा मन्त्रमुग्ध-सी अलौकिक आनन्द का रसास्वादन करने लगती है। हृदय आकाश में सप्तरंगी इन्द्रधनुष का वितान फैल जाता है, नेत्र भाव-विभोर हो उठते हैं, मनमोर नाच उठता है और प्रकृति का रोम-रोम पुलकित हो उठता है और मानव की सहज अभिव्यक्तियां मधु और अमृत के गीत गाने लगती हैं।

डा० सत्येन्द्र ने नृत्यगीत पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

१   २   ३   ४   ५   ६   ७

नटन + नर्तन + भावाभिनय + वादन + स्वर + साधन + शब्दनियोजन +

१   २   ३

८

अर्थज्ञापन + भावाभिव्यक्ति

४

इनमें से १, २ तथा नृत्यगीत के मूलाधार हैं। —प्रथम अवस्था

६ इसके उपरांत आता है। इसमें शब्द तो आते हैं पर अर्थज्ञापन का महत्त्व नहीं होता। —द्वितीय अवस्था

४. नटन+नर्तन में पग-कर संचालन से एक ताल स्वयं पैदा होती है। इसी में वादन आरम्भ हो उठता है। जो नृत्य में भाग नहीं ले रहे होते हैं उनमें भी ताल से ठेका लगाने की गति स्वयमेव उभर उठती है और वादन का जन्म हो जाता है। —तृतीय अवस्था

५. भावाभिनय इस स्थिति पर उभर उठता है। नृत्य और स्वर-शब्द जब ताल पर जमने लगते हैं तो दो तालों के मध्य एक तरंग, लहर या गीत-प्रवाह थिरकता है। इसी में एक रस और रस पोषक भाव की गमक मिल उठती है। यह अर्थपूर्ण भावाभिनय होता है। —चतुर्थ अवस्था

६. अब शब्द प्रधान हो उठते हैं। स्वर-तरंग शब्दों को पचा नहीं पाती है, उनके ऊपर होकर प्रवाहित होती है, उन्हें अपने में व्याप्त नहीं कर लेती, उनमें व्याप्त होती चलती है। फलतः यह शब्द सार्थक हो उठते हैं। अर्थज्ञापन भी इनमें आ जाता है। —पंचम अवस्था

८. अर्थज्ञापन से अर्थानुप्राणित भावाभिव्यक्ति गीत में हो उठती है। उसी के साथ अर्थानुप्राणित भावाभिनय में मुख और हस्तमुद्राएं साभिप्राय और प्रतीक-वत हो उठती हैं। —षष्ठ अवस्था

ताल और साज़

हिमाचल प्रदेश के लोकनृत्य किसी सर्वांग शास्त्र की भाँति अलिखित सिद्धान्त, मान्यताओं, नियम, विधि-निषेध और अविधि आदि हैं। इसका सम्पूर्ण वाद्य-वृन्द, साज़ और ताल है। तालियों, मात्राओं युक्त ये लोक-नृत्य परम्परा-गत अलिखित लोकनृत्य शास्त्र पर अधिक आधारित है।

लोक-नृत्य प्रारम्भ करने के लिए शहनाई वादक शहनाई में गीत बजाता है, ढोलकी वादक ताल पकड़ कर पखावज की भाँति दायें-बायें और डोंडी या काठी से बजाकर नेतृत्व करता है। लोक-नृत्य वाद्यवृन्द में दायें और बायें के लिए अलग साज़ होते हैं। ढोल (ड्रम) घामा (बायां) का और नगारे दायां दिशा ड्रमों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो ढोलकी से निकले बोलों को ऊपर उठाते हैं। लोक-वादक तालों की चमकते हुए बड़ी कलाबाजियां, दुगुण तोड़ आदि बजाते हुए पूरी मात्राओं पर सम पर लौट आते हैं। इनके भी मात्राओं और तालियों के बोल होते हैं, परन्तु ये मात्र प्रयोग या व्यवहार द्वारा ही प्रचलित हैं। खाली का नृत्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक साथ प्रत्येक साज़ दसियों की संख्या में बजने पर भी कहीं जानकारों द्वारा गड़बड़ नहीं होती।

भारतीय नृत्यों के दो मुख्य भेद प्रसिद्ध हैं। विलंबित गति वाले लास्य और तीव्र या चंचल वाले तांडव। हिमाचल प्रदेश के लोक-नृत्यों में विशेषता उसकी लास्यबहुलता है। यद्यपि लोकनृत्यों में अधिकांश नृत्य त्वरा गति वाले हैं, परन्तु इनका प्रदर्शन तभी होता है जब नृत्य समाप्त हो रहा हो, क्योंकि नृत्य के समय उछल-कूद, आगे-पीछे, इधर-उधर झूमने से नर्तक थक भी जाता है। इसलिए इन तालों को मार्ग पर चलते या समारोह के अन्त में नाचा जाता है।

द्रुतगति या तांडव ढंग के नृत्यों में अन्य कार्य संभव नहीं हो सकता। लम्बे कार्यक्रमों में तो धीरगति नृत्य ९० प्रतिशत समय लेते ही हैं। छोटे कार्यक्रमों में भी इन्हें अन्त तक एक चौथाई समय ही मिलता है, जिसमें लाहुली, चम्बियाली, चाखली, उजगजमा, खड़ायता, आदि की लास्यता से विश्रांति पाते हैं। परन्तु अन्ततः वे भी चंचल हो जाते हैं। एक पग (यह पग विलम्बित नृत्यों में एक दो इंच से अधिक नहीं होता) दाहिने बढ़ा (ताली एक), दायां पीछे वाला पांव दाहिने सरकाया (ताली दो), फिर यही क्रम दुहराया (ताली चार), बाम पादक का वही ठुमका दिया (ताली पांच), बायां पांव पीछे किया (ताली छः), दायें पैर का आगे ठुमका (ताली सात), दायां पांव पीछे अपने स्थान पर रखा (ताली आठ), इस प्रकार के चक्रों से आगे बढ़ते-बढ़ते सैकड़ों, सहस्रों चक्रों के अनगिनत फेरे नर्तकों की पंक्ति बजंतरियों के समताल लगाती चलती है। तबले के तालों की भाँति नृत्य तालों के भी अनेक विभिन्न ताल भिन्न-भिन्न संख्या की मात्राओं में होते हैं। परन्तु यदि, प्रक्षेप, अंग-चेष्टाएं तालियों पर ही होती हैं, जो भिन्न-भिन्न नृत्यों की भिन्न-भिन्न संख्या की मात्राओं पर होती हैं। ये ताल छः, आठ, दस, बारह, चौदह, सोलह और चौबीस मात्राओं के पाये जाते हैं। ताल कितनी मात्रा का भी हो नृत्य का चक्र (लूडी तरासे छोड़कर) आठ ही तालियों का चलता रहेगा, ताल के सम पर लौटने का प्रभाव तोड़ के अवसर के अतिरिक्त परिलक्षित नहीं होता, इस प्रकार नृत्य का भरपूर आनन्द नाचने-देखने के अलावा बजाने वाले भी लेते हैं।

नृत्यों का आयोजन जितना लम्बा हो उसी के अनुसार वे नृत्य बदले जाते हैं। उसी अनुपात से प्रत्येक नृत्य को समय देकर अगले का आरम्भ होता है।

नृत्य-संचालन वैसे तो शहनाई-वादक करता है, परन्तु कई बार उसे नृत्य को बदलने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जब ढोली लोग एक नृत्य को तन्मयता से बजाते हुए आसमान सिर पर उठाये रहते हैं, तो उस नक्कारखाने में बेचारी तूती की कौन सुने। ऐसी दशा में कोई समर्थ ढोली ही बदलाव दे सकता है।

जब नृत्य स्थानान्तरित करना हो तो भी विलम्बित ही नाचते हुए मेल दूसरे स्थान तक जाता है। जब शहनाईवादक नृत्य बदलने के लिए अलाप छेड़ता है

ती नाचने वाले उत्सुकता से 'आ' 'अ' का स्वर करके उसका समर्थन करते हैं और शहनाईवादक या कोई नटैया ही अपनी पसन्द का उसी या अन्य ताल का गीत छेड़ देता है। यदि तालांतर हुआ तो गति और अंग-चेष्टाओं में भी बदलाव आता है। इस प्रकार नृत्य का सोपान धीर या विलम्बित की ओर से चढ़ते-चढ़ते क्रमशः त्वरा की ओर बढ़ता है। ये सीमित या विभिन्न नृत्य ही है। चलन्त नृत्यों में खुला नाचने को भी पसन्द किया जाता है जिसमें दाहिने हाथ के पंखे या रूमाल का स्थान खड्ग (तलवार) ले लेती है। इससे तांडवता और बढ़ जाती है। हां, मेले में तलवार का मेल नहीं बैठता। मुक्त नर्तक की त्वरित नृत्यों में तलवारें घुमाकर नाचते और दो तलवारिये परस्पर खड़ायत बाजा बजने पर घोर युद्ध का जैसा दृश्य प्रस्तुत करते हैं, जो दो-तीन मिनट से अधिक नहीं चलता। वह दृश्य एक से अधिक जोड़ियां भी कर सकती हैं। इस दौरान बाकी नर्तक रूमाल घुमा-घुमा कर 'शाबसे,' 'शाबसे' करते हैं। पुनः वही या कोई दूसरा चलंत नृत्य अथवा तरासे आदि शुरू हो जाते हैं। कहते हैं इस खड़ायत या ठोडा नामक नृत्य का चलन हिमाचल के एक राजा (राजा मानसिंह) ने अपने सैनिकों को चुस्त नाच नाचने के लिये प्रचलित किया था। इस प्रकार तीव्रतर नृत्यों में पंक्ति में नाचने वालों की गति और अंग-चेष्टाएँ भी त्वरित ही उठती हैं, क्योंकि ताल ही ऐसे होते हैं। गंभीर नर्तक भी ऐसे अवसर पर मैदान छोड़ बैठते हैं।

कुछ नृत्य-गीत :

हिमाचल के भोले-भाले लोगों के सरल और निष्कपट हृदयों में लोक-संगीत है और उनकी मनोहर चाल में लोकनर्तन। और जब शीतलता और स्वास्थ्य प्रदान करने वाली पवन देवदार और चीड़ के वृक्षों से होकर बहती है, तो कानों को तृप्त करने वाले लोकगीत की गूंज भी वायु में फैल जाती है—

पहाड़ां दा रहणा चंगा ओ गादिया !
पहाड़ां दा रहणा चंगा हो।
ठण्डी ठण्डी हवा चलदी
बरफा दा पाणी पीणा हो
जीणा पहाड़ां दा जीणा हो।

किन्नौर के नृत्य-गीतों में प्रकृति-प्रेम और सामाजिक चेतना का आभास सहसा हो जाता है। प्रस्तुत है नृत्य-गीत की कुछ पंक्तियां :—

नीमा जाडमो !
लार सु गोन्पा।

लारा सु गोन्पा चो ढाई निज़ा लामा ।
लारा सु गान्पा चो ढाई निज़ा लामा ॥
ढाई निज़ा लामा, शुभ निज़ा जोमो ।
ढाई निज़ा लामा, शुभ निज़ा जोमो ।
शुभ निज़ा लामा, लामा चैंईन दुरे ।
शुभ निज़ा लामा, लामा चैंईनु दुरे ॥
लामा चैंईनु दुरे, आचो आने छाङ जौंद ।
लामा चैंईनु दुरे, आचो आने छाङ जौंद ॥
शुभ नीज़ा जोमो, जोमो, चैंईनु दुरे ।
शुभ निज़ा जोमो, जोमो चैंईन दुरे ॥
जोमो चैंईनु दुरे, बानठीन निमा जाङमो ।
जोमो चैंईनु दुरे, बानठीन निमा जाङमो ॥
आचो आने छाङ जौद, कोनिचा हाल दुज्ञोश ।
आचो आने छाङ जौद, कोनीचा हाल दुज्ञोश ॥
कोनीचू ता लोनमा, लार सो छेताचो ।
कोनीचू ता लानमो, लार सो छेताचो ॥
लारसो छेताचो, बानठीन निमा जाङमो ।
लारसो छेताचो बानठीन निमा जाङमो ॥

किन्नौर के कुछ लोग बौद्धधर्म के अनुयायी हैं। बौद्धधर्म ग्रहण करने में वहां किसी तरह की पाबन्दी नहीं। इच्छानुसार कोई भी, कभी भी इस धर्म को ग्रहण कर सकता है। गांव-गांव में वहां बौद्ध मठ हैं, लामा हैं और बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियां हैं। गीत में चर्चित लारसो नामक एक ऐसा ही बौद्ध मन्दिर है। वहां दो स्कूल हैं, एक में लड़के पढ़ते हैं और दूसरे में लड़कियां। वास्तव में यह दोनों स्कूल एक ही स्कूल के दो भाग हैं। इनमें ५० लड़के और ६० लड़कियां पढ़ती हैं। लड़कों में सबसे लायक और बुद्धिमान छङजोत नामक लामा हैं जिनकी प्रेमिका उन्हीं ६० लड़कियों में सबसे होशियार है और सबकी अगुआ है।

पांगी पालदार नृत्यगीत का बांकपन देखिए :—

पांङ पालदारू कुमो । —२
ज्ञायोटङ शोम्पो छाङा ॥—२
ज्ञायोटङ शोम्पो छाङा ।—२
ओमचु छोल्यो छोङपा ।—२
ओमचु ता छोल्यो छोङपा ॥—२

होना ता नीलामु छोड़पा ।—२
अयोटङ ता शोम्पो छाङा ।—२
आला चो रङ बेते ।—२
आला चो रङ बे तेयो ।—२
नामङ ठद दुन्नोश ॥—२—
नामङ ता लोनमा ।—२
आली चौ स्यो नामङ ॥—२
आली चौ स्यो नामङ ॥—२
सन पुग नेगी ॥ —२
बेते स्यो नामङ ॥ – २
ज्ञानपुरा छोड्पा ॥ – २
सन पुरीस लोतोश ।—२
आली चौ याना आचो ॥—२
आली चौ याना आचो ।—२
नीलाम पोचम बीते ।—
नीलाम पोचम बीते ॥—

किन्नौर के इन नृत्यगीतों में चराचर जगत् गाता है, नृत्य करता है। इन नृत्यगीतों द्वारा सामाजिक जीवन का कोष संचित हुआ है। जनसाधारण के स्वप्न और आदर्श, उद्देश्य और कल्पना सब-कुछ इन नृत्यगीतों द्वारा मुखरित हुआ है।

कोकिलकंठी किन्नरियों के मुख से जब रस और जीवन से भरपूर नृत्य-गीत हवा में गूंजते हैं, तब कौन ऐसा सहृदय श्रोता है जो नृत्य के लोभ को संवरण कर सके। मधुर कंठों के साथ स्थानीय लोकवाद्य इन नृत्यगीतों को एक नया उभार देकर चार चांद लगा देते हैं। किन्नरी लोकगीत के अथाह सागर में से इन कुछ नृत्यगीतों से ही उनकी विशेषता की झलक मिल जाती है।

जमाल वज़ीर

खोना रामपुर बोलो
खोना रामपुर
कुमो दरबारो बोलो
कुमो दरबारो ॥
कुमो दरबारो बोलो ।
कुमो दरबारो ॥

तौगौतू देन महाराच बोलो,
तौगौतू देन महाराच॥
तौगोतू देन महाराच बोलो,
तौगौतू देन महाराच।
गीलामु देन शुमगुर बोलो,
गीलामु देन शुमगुर ॥
गीलामु देन शुमगुर बोलो,
गीलामु देन शुमगुर ॥

लोकगीत बहुत लम्बा है। इस गीत में जमाल बजीर की कर्त्तव्यनिष्ठा का चित्रण है। किस तरह उसे डोडरा क्वार क्षेत्र में कर वसूल करने की आज्ञा राजा ने उसे दी, पर उसने जाने से पहले मां-बाप से मिलने की आज्ञा मांगी, जो नहीं मिली। आज्ञा पालन करते हुए वह वहां चला गया, पर फिर कभी वह घर नहीं लौट सका।

हिमाचल के इन अपढ़ ग्रामवासियों की इस समृद्ध लोकनिधि में जीवन के असीम दुखों को भुला देने की क्षमता है। इसमें युगों-युगों की बुद्धिमत्ता और आनन्द-तत्त्व के दर्शन सर्वत्र होते हैं। इस नृत्यगीत को देखिए—

सिंथ राजा लोतो भई ता
श्रङ सिङोनी हम तौन भई
इचू बातङ रिङ तौक भई
इचू बातङ रिङ तौक भई
गता कनौरिङ बितौक भई
गता कनौरिङ बितौक भई
बयंग माचू शा जामू भई
बयंग माचू शा जामू भई
बयंग कारू शा जामू भई
सिंघ रानीस लोतो भई
का कनौरिङ थाब्यू भई

सर्दियों में बाघ शिकार की तलाश में गांव तक पहुँच जाता है। तंग आकर लोग उसे मारने की योजना बनाते हैं। बाघ जब मारा जाता है, तो उसकी खाल में भूसा भरकर लोग घर-घर नाचते और गाते हैं। बाघ मारने वाले को इनाम भी दिया जाता है। इसी बात की ओर संकेत इस गीत में है।

हिमाचल प्रदेश के सभी लोकगीत नृत्यगीत नहीं। अधिकतर कथागीत

और धार्मिक गीत प्राय: अधिक लम्बे होने के कारण इस श्रेणी में नहीं आते। पर इनके गाने और इनकी लय और ताल पर नाचने के विरुद्ध कोई पारस्परिक एवं सामाजिक विरोध भी नहीं है। प्राय: लोग लम्बे गीतों को सुनने में अधिक आनन्द लेते हैं। नृत्यगीतों में यही विशेषत: अपेक्षित है कि उन्हें गाकर, सुनकर शरीर को थिरकन देने की प्रेरणा मिल सके। पुराने लोक-गीतों का अपना स्थान है, पर प्रति-दिन नए नृत्यगीत भी जन्म लेते हैं और स्मृति और श्रुति के सहारे, सामूहिक अवसरों पर प्रसारित होकर जनमानस पर गहरी छाप छोड़ जाते हैं।

कुल्लू के ग्राम्य नृत्य-गीतों की शोभा ही निराली है। सीधा-साधा पर रंग रस से भरपूर रहन-सहन, वैसे ही सीधे-साधे विचार और वैसी ही सरल और हृदय-स्पर्शी भाषा। इनमें से कुछ नृत्यगीतों की छटा देखिए :—

लाल डूँगिए

मेरी लाल डूंगिए, मेरी लाल डूंगिए
बिजा दशमी लागी, मेरी लाल डूंगिए
आसा जाचा बे जाणा, मेरी लाल-डूंगिए
खौला खेलदी लागी, म्हारी देई सरला
मेरे जौंघड़ू शौले, मेरी लाल डूंगिए
आसा बाजा मंगाणा, शुण देई सरला
धोणा जाचाड़ू लाणा, मेरी लाल डूंगोए
थिपू चितरा पोटू, म्हारी देई सरला
म्हारे बेशा रा बाणा, मेरी लाल डूंगिए
तेरे जुटू रा शाणा शुण देई सरला
लाऊ भरम खाणा, मेरी लाल डूंगिए

इस गीत में नायिका लाल डूंगी की प्रशंसा करते हुए कल्लू दशहरे में नाचने-गाने और खुशियां मनाने का जिक्र है।

सिवदासिए

मेली लोड़ी पाणी रे नाला सिवदासिए,
मेली लोड़ी पाणी रे नाला तेरे सों,
देश बोला शोभला उझी मनाली रा,
पाणी बोला ओकती आला तेरे सों।
पाणी बोला ओकती आला सिवदासिए
पाणी बोला ओकती आला तेरे सों।

गुंडी लोड़ी मुंडी रा डाला सिववासिए
गुंडी लोड़ी मुंडी रा डाला तेरे सों।
मैछी लागी तड़फी, तड़फी जी तड़फी,
मैछू लागा भीरे रे जाला तेरे सों।
मैछू लागा भीरे रे जाला सिववासिए
मैछू लागा भीरे रे जाला तेरे सों।

इस गीत में नायिका के साथ कुल्लू मनाली के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।

लालड़िए

तेरे खौला बे आई ओ जी,
खेलदी आई लालड़िए मेरी लालड़िए
खेली जोंगड़ू शौले, लालड़िए मेरी लालड़िए
छौसिए दंनु ओ जी छौसिए दंनु
लालड़िए मेरी लालड़िए
किजी रे तेले ओ जी किजी रे तेले
लालड़िए मेरी लालड़िए
मोटी रे तेले ओ जी मिटी रे तेले
लालड़िए ओ मेरी लालड़िए
किजी रे तेले ओ जी किजी रे तेले
लालड़िए मेरी लालड़िए
गुट्टी रे तेले ओ जी गुट्टी रे तेले
लालड़िए मेरी लालड़िए

इस गीत की नायिका के नाचते-खेलते पांव ठण्डे हो गए तो नायक उसे गर्मी पहुंचाने के अनेक साधनों का ज़िक्र करता है।

चम्बा ने लोकगीतों के क्षेत्र में राष्ट्रीय स्तर पर जो ख्याति अर्जित की शायद ही अन्यत्र उपलब्ध हो। चम्बा के सुन्दरतम लोकगीत सुनने में भी उतना ही स्वर्गिक आनन्द देते हैं जितना नृत्य के साथ-साथ। यह नृत्य-गीत हिमाचल प्रदेश तक ही सीमित नहीं, अपने गुणों से इन्होंने देश के जनमानस पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है और कई लोक-गीतों की धुनें फिल्मी गीतों के लिए भी अपनाई गईं। ऐसे ही सुन्दर लोक-गीतों में से कौन-से गीत चुने जायें कौन-से

छोड़ दिए जायें, यही समस्या है । फिर भी स्थानाभाव के कारण थोड़े ही नृत्य-गीत यहां दिए जा सकते हैं ।

चल पांगी जो जाणा मेरी प्यारिए, चल पांगी जो जाणा है ।
पांगी री जोता सोहणी-सोहणी नारां, सै तां बणाणी तेरी भैणा हे ।
पांगी केहड़ी ठांगी, लोहल केहड़ा जीरा, मन तां रखणा धीरा है ।
पांगी रे जोता तिलमिल पाणी, सै तां मैं पीणा जरूरा है ।
किनी बोट कराया उत्थी भोटली रा नाचा, किनी बो पीती हो सराबा हे ।
मैं ही बो कराया उत्थी भोटली रा नाचा, मैं ही पीती बो सराबा हे ।

एक अन्य गीत की बहार देखिए ।

इस गीत में पांजी के प्राकृतिक सौन्दर्य एवं सुन्दर नारी की प्रशंसा की गई है ।

लच्छी बड़ी सूरतां वाली, तू मेरे कन्ने बोल लच्छिए,
हाय बो प्यारिए, हाय बो दुलारिए ।
पतली कमर झुकी जांबी,
तू छोटा घड़ा चुक लच्छिए ।
हाय बो पियारिए, हाय बो दुलारिए ।
अधी-अधी राती तू आया,
मितरा ए कम बुरा किता हो ।
इक मेरी बांह तें मरोड़ी,
मितरा दुजे लोई फाड़ी हो ।
इक तां रोटी पकाई मेरे मितरा,
दुजं तैं नी ए खादी हो ।

इस गीत में नायिका की प्रशंसा करते हुए संवेदना प्रकट की गई है और साथ में नायिका की करुणा और वियोग का ज़िक्र है ।

भौंरा

लाल तेरा साफा ओ भौंरा, मोरं केरी कलगी ओ ।
मोरं कंरे कलगी ओ जानी, बणी-बणी पुन्दी ओ ।
चिट्टा तेरा चोला ओ भौंरा, काला तेरा डोरा ओ ।
भाली-भाली खिजी ओ जानी, रोई रोई सिज़ी ओ ।

रावियां दे कंडे ओ जानी, मोटरां चलो री ओ।
मोटरां चलो री ओ जानी, रोणका लगो री ओ।
चम्बे रे चुगाना ओ जानी, बीजली दलो री ओ।
मिंजरां लगौ री ओ जानी, रौणकां लगौ री ओ।
मिंजरा रे मेले ओ जानी, बणी तुणी जाणा ओ।

चम्बा के लोक कवि को अपनी धरती से कितना प्यार है, गौरव है। इस गीत में नायक की सुन्दरता का मनोहर चित्रण है।

चम्बे दीयां धारां

गोरी दा मन लगेया चम्बे दीयां धारां।
घरघर टिकलू घरघर बिंदलू,
घर-घर-बांकियां नारां, गोरी दा मन ......।
चम्बे पीयां धारां। हरियां ते भरियां,
ठंडियां पौण फुहारां। गोरी दा मन ......।
चम्बे दीयां धारां। की-की बिकदा,
निम्बू नरगी अनारां। गोरी दा मन ......।

इस गीत में चम्बा और चम्बा की सुन्दरियों की प्रशंसा की गई है।

सभी लोक-नृत्यों का मार्गदर्शन उन नृत्यगीतों द्वारा होता है, जिनके द्वारा प्रकृति, पारस्परिक व्यवसाय, देवभक्ति, ऋतु और धार्मिक अवसरों तथा असाधारण स्त्री-पुरुषों, प्रम, युद्ध इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला जाता है।

डॉ० सत्येन्द्र ने इस विषय पर सारगर्भित प्रकाश डाला है:

"नृत्य मनुष्य की सम्पूर्ण और समग्र अभिव्यक्ति है। नख से सिख तक के अवयव इसमें थिरकते हैं, ऐसी सकलावयवी, कला-ग्राह्य उत्तेजना में सुख से सहजात ध्वनि भी निकलेगी ही। इसी से नृत्य के साथ गीत सहजात माना जाना चाहिए। यह सहजात ध्वनि गीतध्वनि कही जा सकती है क्योंकि नृत्यों की गतियों और मुद्राओं की भांति इसमें ताल और गति की स्वच्छन्दता मिलती है। गति ध्वनि के स्वर में तब शब्द भी आ जाते हैं। नृत्य की गति और तत्सहजात ध्वनि की लहर स्वाभाविक रूप से अलग-अलग नहीं हुई। यह कला विकास में विभेदक प्रवृत्ति से आगे चलकर पृथक् किये गये नृत्य का नृत्य के रूप में अभ्यास किया जाने लगा और गीत का गीत के रूप में। फिर भी हमें लोक क्षेत्र और अभि-जात्य क्षेत्र दोनों स्तरों में ऐसे नृत्यगीत मिलते हैं जो गठजोड़ किये हुए हैं। नृत्य की अपनी गतियां अपना निजी अर्थ रखती हैं, वह अर्थ मनुष्य की मनीषिता

द्वारा आरोपित नहीं होता।"

जिला मण्डी का लोकजीवन भी समृद्ध लोक-संस्कृति की परम्परा से जन-जीवन में मिठास और मधुरता घोलता रहता है। यहां के लोकनृत्य और नृत्य-गीत भी हिमाचल प्रदेश के अन्य क्षेत्रों की तरह चित्ताकर्षक और मनोहर हैं। असंख्य नृत्यगीतों में से कुछ यहां उद्धृत किए जा रहे हैं।

निर्मण्डा रीए बाहमणिए

निर्मंडा रीए बाहमणिए हो
पया बरखा रा छाला भलिए, निर्मंडा—१
ढाठू सग्या एसा बाहमणिए रा—२
पया बरखा रा छाला भलिए, निर्मंडा रीए—३
भुख लगी एसा बाहमणिए जो,
खाई लेणा गरिए रा गोला भलिए, निर्मंडा रीए—१
सोख लग्या एसा बाहमणिए जो—२
पी लेणा नालुए रा पाणी भलिए, निर्मंडा रीए—१

इस सुन्दर गीत में निर्मण्ड गांव की नायिका की सुन्दरता का वर्णन है।

कैलाश वासी

हाथा लया लोटा, काछा लई धोती
हो मेरे शम्भू समुंदर न्होण चली,
हो कैलाश के वासी संकट सभी के तू हरी ले
तेरे जे कैलाशा रा भेद नी पाया
हो भोले शम्भु समुंदर न्होण चली,
हो कैलाश के वासी संकट सभी के तू हरी ले
जिने जे भी मांगया, तीने तेहड़ा पाया,
दुनियन रा सारा दुख दूर भगाया,
हो भोले शम्भू समुंदर न्होण चली।

इस गीत में महादेव की स्तुति की गई है।

मणिए ओ

सिर तेरा कापला जुट्टू चांदी रा
लाणा मणिए ओ।

घर ढालू हिलण चीला टांकदे ।
जाणा मणिए ओ ।
खूण रे मुकदमे देणा कालू वकीला
देणा मणिए ओ
हाथा थे चिमटा काछा नाथेरी
झोली मणिए ओ
सिर तेरा कापला जुट्टू चांदी रा
लाणा मणिए ओ ।

इस गीत में नायिका के प्रेम में जो किसी का खून हुआ, उसमें उसे बचाने के लिए प्रेमी वकील खड़ा कर, उसे बचा लेगा।

शिमला, सोलन और सिरमौर क्षत्र में तो घर-घर, गांव-गांव लोकनृत्य और नृत्यगीतों की भरमार रहती है। कोई उत्सव या मेला या त्यौहार ऐसा नहीं, जो इनके बिना पूरा समझा जाता हो। नित नये-नये गीत उभरते हैं, बनते हैं और पुराने नृत्यगीत अपने पुरानेपन के साथ जनजीवन को मोहित करते रहते हैं। इस क्षेत्र का शायद ही कोई ऐसा गीत हो, जो नृत्यगीत न हो। गीत और नृत्य का आत्मा और शरीर का-सा साथ है। कुछ गीतों की पंक्तियां यहां दी जा रही हैं।

परसरामा

ऐरे बोलो खूनिया परसरामा म्हारे बोलो देखणी धीया
एकी भाइये हिकड़ कूहणो दूजे बोलो भाइये हीया
पोरे कर ऐसा मूओं री कफनी म्हारे बोलो देखणी धीया
एकी खेता रे मटर बीके, दूजे खेता रे आलू
बड़ी भाभी री बेसर बोकी, छोटी भाभी रा बालू
बालू बोले खूनिया परसरामा छोटी बोलो भाभी रे बाल
ठारा शोआ रे मटर बोके, बारा शोआ रे आलू
धौरो बेशी मुकदमा खेलू, नई जुणगे छाडू
छाडू बोलो खूनिता परसरामा, नई जुणगे छाडू

इस गीत के नायक ने किसी व्यक्ति को मार दिया था। फांसी से बचने के लिए नायक के घर का सारा सामान बिक गया और कैद भुगतनी पड़ी।

नैणा लाड़िए

चीटलौ चादरू लाला धारियौ कूणी बणाओडी बुणो लो
कूणी बणओडी बुणो मेरी नैणा लाड़िए, कूणी बणाओडी बुणो लो।
सूलड़े जपे नैणु लाड़िए लोगू ता दूरा का शूणो ओ
दूरा का शूणो ओ मेरी नेणू लाड़िए, लोगू ता दूरा का शुणो ओ
घर ता चिणे नेणा लाड़िए, लोहे घड़नी गजा लो,
घड़नी गजा लो मेरो नेणा लाड़िए ! ......।
बेशी तो रोहणे तोंगे आगे, करी लेणा पेउके मजा लो,
पेउके मजा लो मेरी नैणा लाड़िए ......।
माहणू तो चंई जिवा लागदे, घर चंई खिड़की आलं लो,
खिड़की आलं लो मेरी नेणा लाड़िए ......।
पौलू ता दींदे ऐरे लगणों, शा चंई बालिए बाले लो,
बालिए बाले लो मेरी नेणा लाड़िए......।

इस गीत की सुन्दर नायिका की मनोस्थिति का लोक कवि ने सजीव चित्रण किया है।

बिंदिए

हाथो दो बेटरी बांही चमको, घड़ी रे बिंदिए जियालाला,
चाली स्कूलो खे रोई रस्ते, खड़ी रे बिंदिए जियालाला।
पोरा बोलो ठयोग पोड़ा ऊरा साम्हणा फागू रे, बिंदिए जियालाला
केहली तेरी जिंदड़ी सारी दुनिया लागू रे, बिंदिए जियालाला
तेरी परांठी लागा रेडिया, बाजा रे, बिंदिए जियालाला
नौऊ खुलू फार्मा बिसकुट रा, खाजा रे, बिंदिए जियालाल
धालो रा मुनशी बाबू दुरगा सिंघ रे, बिंदिए जियालाला
तेरी परोंठी कुत्ता भूंका बाबू रे बिंदिए जियालाला
म्हारा बे कलकों हाई कोर्टो रा बाबू रे, बिंदिए जियालाला।

इस गीत में नायक और नायिका के प्रेम का सुन्दर वर्णन है।

लाल चिड़िए

लाल चिढ़िए सेरे ना जाणा, सेरे ना जाणा, सेरे ना जाणा
सेरं पाको ला गीहूं रा दाणा, गीहूं रा दाणा

गीहूं रा दाणा घरे ले आणा, घरे ले आणा, घरे ले आणा
गीहूं रा दाणा जादा नी खाणा, जादा नी खाणा, जादा नी खाणा
तेरे शेट्ग्रा ऊंफरी जाणा, ऊंफरी जाणा, ऊंफरी जाणा
लाला चिड़िए सेरे नी जाणा, सेरे नी जाणा. सेरे नी जाणा
सेरे पको ला माशं रा दाणा, माशं रा दाणा, माशं रा दाणा
माशं रा दाणा घरों ले आणा, घरे ले आणा घरे ले आणा
तेरे शेट्ग्रा ऊंफरी जाणा, ऊंफरी जाणा, ऊंफरी जाणा
लाला चिड़िए सेरे ना जाणा, सेरे ना जाणा, सेरे ना जाणा।

इस गीत में व्यंग्य एवं हास्य का सुन्दर चित्रण हुआ है। लाल चिड़िया को प्रतीक बनाकर लोकगायक ने अपनी बात प्रकट की है।

कौल रामा

हैट मेरैया ठयोगा चतरा देशा, कौल रामा चतरा देश
खाचरी गांई बे बौणाका बेशा, कोंल रामा बौणाका बेशा
सधूरी धारा दी खींढुये चौणे, कौल रामा खींडुए चौणे
साथौ रे आदमी पन्दरह् झोणे, कौल रामा पन्दरह् झोणे
नीलोए मेरिये दूधा लै धोई, कौलरामा दूधा लै धोई
साथा रे आदमी आसो ना कोई, कौलरामा आसो नी कोई
साथो रे आदमी पन्दरा आसो, कौलरामा पन्दरा आसो
सन्धुए जांगलं लाइणी आगा, कोंलराम लाहणी आगा
नीलिए मेरिए खाए ना घासो, कौलरामा खाए ना घासो
खाचरी गाई बेशी बराधा, कौलरामा, बेशी घराणा।

इस गीत के नायक की एक रात जिस प्रकार मृत्यु हो गई, उसकी याद को ताजा रखने के लिए इस गीत में उस स्थिति का वर्णन है।

कांगड़ा के जनपदीय क्षेत्र ने भी नृत्यगीतों को जन्म दिया है, जो दीर्घकाल से पहाड़ी जनमानस पर अपनी छाप डाले हुए हैं। आज भी युवक समारोह पर स्कूलों या कालेजों में किसी अन्य उत्सवों पर इन नृत्यगीतों की गूंज कानों को तृप्त करती रहती है।

डॉ० सत्येन्द्र ने ठीक ही कहा है :—

"प्रत्येक नृत्य की अपनी स्वरलहरी होगी, क्योंकि नृत्य और स्वर समग्र मानवीय अभिव्यक्ति में अविभक्त और सहजात हैं। यह बात आज भी देखने को मिलती है। जैसा नृत्य वैसा गीत या जैसा गीत वैसा नृत्य। गीत के लिए

नृत्य होता है और नृत्य के लिए गीत होता है। आदिम या मूल स्थिति में दोनों एक दूसरे के लिए होते हैं। दोनों मिलकर ही कला की पूर्ण इकाई बनती है।"

'पानो' गीत की पंक्तियां देखिए :—

पार घटे कणका दे तोड़े
माता दीयां कणका—जो अइयां ओ।
पार घटै आई नीली लारी
कुण परदेशी ग्राए पौहणे ग्रो
हेरे मेरी पानो री जवानी
पानो मेरी हलवे रीड ली ग्रो
पानो मेरी छोटी है कि मोटी,
पानो जेही गुजरा री फोटी ग्रो,
कांगड़े ते ग्राया बणजारा
पानी हत्थे बंगड़ू चढ़ाणे ग्रो।
इक्की हत्थे साबण लगाणा,
दूए हत्थे बंगड़ू चढ़ाणे ओ।
जली जाग्रो पानी तेरे हत्थड़ू
बंगड़ू रा किता नुकसाना ओ।
हत्था केरी गाल ना तू देंया ग्रो,
बंगड़ू दा दिंगी हरजाना ग्रो।

इस गीत में नायिका अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में खड़ी स्वप्न बुन रही है।

बांकु देया चाचुग्रा

हऊं तां गलानिया सच बो,
मेरे बांकु देया चाचुग्रा
मेकी बी लई चल कछ बो,
मेरे बांकु देया चाचुग्रा
ग्रप्पू तां चल्ला मुग्रा नौकरी तां चाकरी
साकी तां देई गीया खुरपा तां दातरी
लकडुए चली गई चस बो
मेरे बांकुदेया चाचुआ
रोटियां पकांदियां जो गरमी लगदी,
भांडे मांजिदिया जो सरमा लगदी,

निक्का मेहा नौकर रख बो,
मेरे बांकु देया चाचुआ ।

इस गीत की नायिका का पति नौकरी पर जाता है और नायिका अपनी व्यथा लोक-गीत द्वारा प्रस्तुत करती है।

उचिया तां रीढ़िया

उचिया तां रीढ़िया ओ बंगला पुआंदी, बंगला पुआंदी,
लमियां रखांदी कातां ।
उचिया तां रीढ़िया में खूआ दुआंदी, खूआ दुआंदी
लमियां सटांदी लजरां
उचिया तां रीढ़िया में बाग लुआंदी, बाग लुआंदी
फूल लुआंदी मेरे सजना ।

इस गीत में कांगड़ा के पहाड़ों की प्रशंसा करते हुए सपने बुन रही है ।

शिमला क्षेत्र की तरह सिरमौर क्षेत्र के नृत्यगीत भी यहां के लोक-नृत्यों का एक अभिन्न अंग बनकर युग-युग से लोकमानस का मनोरंजन करते रहे हैं और यहां की परम्पराओं का इतिहास अपने दामन में समेटे हुए हैं । उसी स्वर्गिक आनन्द की अमूल्य माला से कुछ मणके यहां प्रस्तुत करने की चेष्टा की जा रही है ।

बाबुआ जोगिंदरा

कुटि लोओ चिओड़े लाए लोये फाके मामा
ऊबे लागे छापरो बौटरी झमाके मामा
बाबुआ जोगिन्दरा बौटरी झमाके मामा
डिगरों रो किंदरी धाले पांदे गांव मामा
डिगरों रो किंदरा धाले पांदे गांव मामा
छाती लिखे काजलो समितरे रा नाओं मामा
डिगरो रा किंदरो कोइंथो रे कांडे मामा
कैबे ल्यौणे समितरा, कैबे रौहणे रांडे मामा,
बाबुआ जोगिन्दरा कैबे रोहणे रांडे मामा ।

इस गीत में नायक नायिका के साथ जीवन-भर साथ रहने की कसम खाता है। दोनों के प्रेम की कहानी इस गीत में उभरी है ।

रतनिए

ऊंबें ऊंबो, ऊंबो—
बिलो शाणियो धीयो रतनिए
हसणे के खेलणें के म्हारा बालको रा जीयौ, रतनिए ।
एके हाथो दे झाड़णा, एके हाथे छावटी, रतनिए
छोटे-छोटे तेरे हाथड़ू काली लम्बड़ी आखडी रतनिए
फूली करौला फूरणू, डाली फुलाली घाई रतनिए
तेरे रोजके रूशणे, हामा किचलो घाई रतनिए
डूंगे धारा रे बाथुआ, लाल लम्बड़े सिल्ले रतनिए
मरी जावें भला बिछड़े पंछी होई रो मिले, रतनिए

इस गीत की नायिका के प्रति नायक की प्रेम-भावनायें सुन्दर रूप में प्रकट हुई हैं ।

सौयणा

हो सौयणा, पीपली रा बूटो, हो सौयणा ।
जांगली आणो दुर्गासिघी कुमों रे बूटो, हो सौयणा
बूटो आणलो कुमों रे आणो सरजो रा सूटो, हो सौयणा
बूटो ना आणे राबड़ो, बाटो हांडदे-चूटो, हो सौयणा
थाणी गामे कूलंगी लॉगी ढोलो दी गीओ, हो सौयणा
हो गीओ दी पौड़ी नाचदी तेसी सादिए री धीओ, सौयणा
हो, ढोबदी नाचै सौयणा, लागो कलिए खै पौता, हो सौयणा
हां खोशटा आणे रोगवाहणी, तांखे हाथों के छीता हो सोयणा
हो ऊबा गांवट कूलगो रा, हुन्दे कूलगो रे फोरे, हो सौयणा
बोलो रीतो भाजीओ कोटदी ऐबो डेबणा रे घौरे, हो सोयणा
हो केई तो कौरे सौयणा तू जीओ खेभे हड़ा, हो सौयणा
हो, रेलू कुमीया सुखदे भाजे कोलिया रे शौड़ा, हो सौयणा

इस गीत में सुन्दर नायिका के कई प्रेमियों के प्रेम-प्रदर्शन का आकर्षक चित्रण है ।

'झूरी' सिरमौर और शिमला जनपद की प्रसिद्ध लोक-गीत शैली है, जिसके द्वारा गायक जीवन की गहरी बात प्रकट करने में समर्थ होता है ।

झूरी

टाटे गे ठौगड़ी ठौगड़े के टाटी, उखलो दी शाटी सातू जे बाटी,
जैतणी गोती म्हीनो री झूरिए, तेतणी भुखया हामे काटी,
कांहडे रा कौथरा, नेवलो रा घोलो, कोई गिरी झूरिए गुनली रांडे,
पाणी जैई बौशणे खे दाड़िए ओलौ, पाणी जैई बोशणे खे ।
श्रोशके चेवड़े पोरकी मांगो । तीनो कोई नी देई दो झूरिए ।
पालटे डायमों श्रौसौ जो मांगों, पालटे डायमो रे ।
भेड़ो रा गाभटा, दूधो नी मोहिषो रा पीन्दा,
बूढ़े रे भाजी रोंहदी झूरिए,
नौश्रा नी गाबरू तां कुएं नींदा, नौआ नी गाबरू रे ।

कुल्लू, शिमला, सोलन और सिरमौर के नृत्य-गीतों का परस्पर बहुत आदान-प्रदान हुआ है और होता रहेगा । शिमला क्षेत्र के नृत्य-गीत सिरमौर, कुल्लू क्षेत्र और यही नहीं कुछ गीत हिमाचल के अन्य भाग तथा बाहर भी लोकप्रिय हुए हैं और सिरमौर के शिमला क्षेत्र में प्रचलित और लोकप्रिय रहे हैं। आशा है यह आदन-प्रदान पहाड़ी भाषा की समृद्धि के साथ बढ़ता रहेगा ।

नृत्य-गीतों की परम्परा में बिलासपुर, नालागढ़ जनपदीय क्षेत्र हिमाचल प्रदेश के अन्य क्षेत्रों से पीछे नहीं। इस क्षेत्र में गिद्धा नृत्य अधिक लोकप्रिय है ।

गिद्धा—१

कल उड़ी गया भौंरा दूरा दूरा
उड़-उड़ भौरा मेरे कन्ना ते बैठया
कांटे दा करी गया चूरा-चूरा
उड़-उड़ भौंरा मेरे मत्थे ते बैठया
बिंदिया दा होई गया चूरा-चूरा
उड़-उड़ भौंरा मेरे नक्के ते बैठया
बालुए दा होई गया चूरा-चूरा
उड़-उड़ भौंरा मेरी बांही पर बैठया
गजरे दा होई गया चूरा-चूरा
उड़-उड़ भौंरा मेरे हत्थे ते बैठया
मुंदिया दा होई गया चूरा-चूरा ।

इस गीत में प्रेमी भौंरा की निठुरता को बार-बार दोहराया गया है ।

गिद्धा—२

उड़ी जाणा ओ बसंतिए तेरा रुमाल
खद्दरे दी कुरती लो इतणा गुमान
जे होती ए रेशमी की, उड़ी समाण
खद्दर दा चादर लो इतणा गुमान
जे होता ए रेशम का तो उड़ती समाण
खद्दर दी सुथन लो इतणा गुमान
जे होती ए रेशम की तो उड़ती समाण

इस गीत में नायिका के घमंड की निरर्थकता ही दिखा कर जीवन के सत्य की ओर उसका ध्यान दिलाया गया है।

इसी प्रकार यह नृत्यगीत भी लोकप्रिय है।

लम्बड़ा झलम्बड़ा

हो मेले जाणे नी देंदा—२
लम्बड़ा झलम्बड़ा बहुत ही बुरा।
अंगुलियां जे मेरियां रौंगा दीयां फलिां-२
छल्ला मुंदी पाणे नी देंदा, हो मेले जाणे नी देंदा,
लम्उड़ा झलम्बड़ा बहुती हा बुरा।
मत्था बे मेरा बदली दा चंद बे—२
टिकलू बिन्दलू लाणे नी देंदा हो मेले जाने नी देंदा,
लम्बड़ा झलम्बड़ा बहुत ही बुरा।
हंखी जे मेरियां अम्बू रीयां पंखियां—२
कजला सुरमा पाणे नी देंदा, हो मेले जाणे नी देंदा,
लम्बड़ा बौहत ही बुरा।

इस गीत की नायिका अपने प्रेमी से कहती है कि उसका घर वाला उसे न मेले जाने देता है और न हार-शृंगार करने देता है। वह बड़ा ही खराब है।

लाहौल स्पिति अपने प्राचीन वैभव और गाथाओं के लिए अधिक प्रसिद्ध है। लोक-जीवन की परम्परागत थाती लोक-नृत्य एवं नृत्य-गीत अपने प्राचीन सौंदर्य के साथ वर्तमान की चकाचौंध में भी जीवित रह पाए हैं, तो उसका श्रेय उसमें निहित लोकमंगल और कल्याण की भावना को दें तो अतिशयोक्ति न गीहो।

टशो कलजम

पारे बाणे ओ एकी मिरगे आगे ओ—२
पुतरा टशी कलजम हेड़े ओ त्यारी ओ—२
माई तां बाबू ए समझाणे लाई ओ—२
पुतरा टशी कलजम मनुणे री नाई ओ—२
लाड़ी ता जिला जोम समझाणे लाई ओ—२
पुतरा टशी कलजम मनुणे री नाई ओ—२
पारे गणा ओ गजा गजा हिंवे ओ —
पुतरा टशी कलजम बंदूकां स्वारी ओ—२
पुतरा टशी कलजम बंदूकां भारी ओ—२

इस गीत में नायक जंगली जानवरों का शिकार करने जाना चाहता है और उसके मां-बाप और पत्नी उसे जाने से रोकते हैं, पर वह तैयार होकर चला जाता है।

छोटा शाँसा चमक ओ

पावर हौसे कामा ओ, छोटा शांसा चमक ओ।
सीरुकारे कामा ओ···।
पाणी पावर हौसा, ओ, छोटा शांसा चमक ओ।
घमवीरा आया ओ ···।
केलंगा बिजुली लाइटा ओ, छोटा शांसा चमक ओ
घरे घरे लाइटा ओ···।
बिजुली रा तारा ओ···
लंबरा मंगया ओ,···।

इस गीत द्वारा लोकगायक ने बिजली पानी की सुविधा पहुँच जाने के कारण गांव की चमक का वर्णन किया है।

रूपी राणी

सूरण शूकी कूल्ह शूकी पाणी नाई टी पूजे।
गूंशेरी पाणू डारा शूकारा गेई जे।
बम्बे आई उदेटू रौड़ा राणे री प्रोड़ी काड़ी जे।
राणे री प्रोड़ी काड़ी जे पोती पोती री हेरी जे।

पाती री अंदू राजे काड़ी कुत्ती बाटा जे।
ऊंदो मामा टीटू माइता माना सूबा कीती जे।

यह धुरे गीत रूपी रानी के बलिदान की गाथा है। रूपी रानी चम्बा के राजा की बहिन थी और घुशाल के राजा की पत्नी। कहते हैं, लाहुल के घुशाल गाँव में पानी नहीं था। संयोगवश वहाँ एक साधु पहुँचा। उसने पानी के लिए बलिदान ही एकमात्र रास्ता सुझाया। बलिदान के लिए पहले राजा की काली कुत्ती का नाम सुझाया गया, लेकिन उसका बलिदान तय नहीं हो पाया। फिर राजा की बिल्ली का बलिदान सुझाया गया, लेकिन वह भी तय नहीं हुआ। तब राजा की पत्नी रूपरानी का बलिदान सुझाया जाता है और वह तय भी हो जाता है। बलिदान के फलस्वरूप घुशाल गाँव में पानी आ जाता है। सर्दियों में लाहुलवासी इस बलिदान गाथा को इकट्ठे होकर घंटों तक गाते रहते है। प्रस्तुत पंक्तियां गीत के आरम्भिक भाग की हैं।

प्रासंगिक कथागीतों का आंशिक रूप प्रस्तुत किया गया है।

हिमाचल प्रदेश के अथाह लोकगीतों-नृत्यगीतों के भण्डार में से कुछ लोकप्रिय गीतों की पंक्तियां चुनकर मेरा उद्देश्य केवल यही है कि सारी आनन्ददायक वस्तुओं के रसास्वादन का परिचय थोड़ी मात्रा में भी सम्भव है, जिसके लिए हिमाचल प्रदेश की यह कहावत साक्षी है—'चावलो री एक गुलटी देखी, सारा हांडा नी खरोली' (चावल का एक दाना देखते हैं सारी हांडी को नहीं देखते) वर्गीकरण प्रस्तुतीकरण की सुविधा के लिए किया गया है। वैसे लोकगीत तो वास्तव में देश काल की सीमा में नहीं बँधते है। यही उनकी श्रेष्ठता का द्योतक है और शताब्दी के थपेड़ों में जीवित रहने का प्रमाण भी है। इन पुराने नृत्यगीतों का संग्रह अभी तक छुटपुट रूप में तो हुआ है, परन्तु विस्तृत रूप में सभी लोकगीतों का संग्रह, उनकी पृष्ठभूमि, ताल, लय, छानबीन, टेपरिकार्डिंग इत्यादि अभी तक नहीं हो पाया।

उपसंहार

प्रत्येक कला जब वह लौकिक पक्ष को भुलाकर केवल व्यक्ति पक्ष की ओर झुकती है, तो वह अपना सामाजिक संदर्भ खोकर अपने को भी खो देती है। हिमाचल प्रदेश की लोक-कला, लोक-नृत्य एवं लोक-गीतों के बारे में भी यह कहा जा सकता है।

आज हिमाचल प्रदेश की लोक-कला पुनर्जागरण की अवस्था से गुजर रही है। विज्ञान और तकनीकी चकाचौंध के इस युग में जो घुटन-सी महसूस होती है, उसमें भी लोक-कला की सादगी या आत्मीयता हमें आत्मसन्तोष देती है और आश्वस्त करती है कि अभी तक इस पर्वतीय क्षेत्र की लोक-कला में पहाड़ी जनजीवन का भरपूर स्पन्दन है, इसलिए यही यहां के जनमानस और संस्कृति की सच्ची वाहिका है। आज यहां की प्राचीन कला परम्पराओं को जहां जीवित और सुरक्षित रखने की आवश्यकता है, वहां कुछ लोक-नृत्यों में कुछ ऐसे सुधार करने या ऐसे नए लोक-नृत्यों की रचना करने की भी आवश्यकता है जिनमें पहाड़ी लोक-जीवन का अधिक स्वस्थ, सशक्त और प्रभावशाली रूप में प्रकट करने की क्षमता भी हो, जिसमें युगों से रोंदी गई मिट्टी की महिमा को प्रभावशाली अभिव्यक्ति एवं व्यक्तिगत स्पर्श देने और यहां के लोक-जीवन की आनन्द धारा को प्रस्फुटित करने की क्षमता हो।

किसी भी लोक-कला के इतिहास में एक समय ऐसा भी आता है, जब इसके जीवन पक्ष और विधान पक्ष में प्रधानता के लिए संघर्ष आरम्भ हो जाता है और प्राय: रूप विधान ही सर्वोपरि हो जाता है। फलतः कला का ह्रास हो जाता है। फिर कलाकारों में जो आत्मनिर्भरता की भावना घर कर लेती है, उससे प्रगतिरोध और क्षीणता आ जाती है। एक अन्य आवश्यकता इस बात की है कि जिसके कारण कला सजीव होती, उस प्रेरणा को आत्मसात किये बिना अनुकरण भी घातक सिद्ध होता है। इसलिए उन नकली पारखियों से भी सावधान रहने की आवश्यकता है जो मिथ्या एवं निराधार मानदण्ड स्थापित कर मूल्यांकन करते फिरते हैं और सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए सच्ची और जीवनदायिनी परम्परा से परे हट जाते हैं। वे व्यर्थ ही लोक-

कला को शास्त्रीय कला-परम्परा में बांधने का दुस्साहस करते हैं।

जैसा कि मैंने आरम्भ में भी विचार प्रकट किया था कि हिमाचल प्रदेश के इन लोक-नृत्यों का परिचय देते समय शास्त्रीय नृत्यों की तरह सारी शैलियों के कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किए गए। इनकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी है कि समय-समय पर परिस्थिति और स्थान की आवश्यकतानुसार लोक-मनोरंजन के लिए इन्हें अधिक उपयोगी बनाने के लिए इनमें परिवर्तन, संशोधन और सुधार भी होते रहे हैं। पर शास्त्रीय नृत्यों की भांति इनके प्रशिक्षण के लिए अभी तक कोई प्रबन्ध नहीं। परम्परागत आधार पर ही आगे बढ़ते रहे हैं। इसके अतिरिक्त लोक-नृत्य के लिए नामकरण की भी आवश्यकता पड़ी, यह सम्भव है कि एक जगह लोक-नृत्य के लिए जो नाम प्रचलित है, वह दूसरी जगह न हो। इसी प्रकार इन लोक-नृत्यों का वर्गीकरण करते हुए मेरा आशय यह कदापि नहीं रहा कि जो लोक-नृत्य एक क्षेत्र में प्रचलित हैं, वह दूसरी जगह लोकप्रिय नहीं। शिक्षा और संचार के साधनों के प्रसार के फलस्वरूप तथा राजकीय प्रोत्साहन के कारण हिमाचल प्रदेश के सारे लोक-नृत्य प्रायः प्रदेश के सभी कालेजों, स्कूलों तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों में बिना किसी भेदभाव के नाचे जाते हैं और दर्शकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं।

किसी भी मापदण्ड पर आंकने से यह लोक-नृत्य रंग-बिरंगे लोक-गीत, लोक-कला और संस्कृति के प्रेमियों के लिए विशेष आनन्द और प्रेरणा रखते हैं। प्रकृति के गौरव पर्वत शिखर तथा रंगीन छटा इन लोक-नृत्यों की लय, गीत और ध्वनि में एक नया रंग-रस भरते हैं। नि.संदेह, लोक-जीवन की अमूल्य निधि लोक-कला हैं। इनके प्रति अरुचि दिखाना लोक-जीवन को शुष्क और करुण बना देना है। लोक-कला की भावनाओं की परिष्कृति और स्थिरता प्रदान करती है। मानव स्वभाव की भावनात्मक कमजोरी का परिणाम होगा, नैतिक चरित्र में गिरावट जो किसी राष्ट्र के पतन का चिह्न है।

अभी तक बौद्धिक जगत् नगर में रहने वाले, तथा लोक-कला के महत्त्व से अनभिज्ञ व्यक्तियों के मन में यह पूर्वाग्रह नहीं गया कि नाचना-गाना नीच कर्म और इसे केवल व्यावसायिक नर्तक और नर्तकियों तक ही सीमित रखना चाहिए। लोक-कला के पुनर्जागरण का कार्य किसी अकेले व्यक्ति या छूमन्त्र से एकदम होना असम्भव नहीं है। इस पतन और विकृति से बचाने के लिए जनता में इसके प्रति अभिरुचि बढ़ाने और इसको सुरक्षित रखने की दिशा में ध्यान देने, देश और विदेश में इसके प्रति आदर-भाव जगाने और अन्य कला-संस्थाओं से स्वीकृति प्राप्त करना इत्यादि ऐसे कार्य हैं जिनके लिए सावधानी, गम्भीरता और सुनियोजित पग उठाने की तुरन्त आवश्यकता है। कम से कम

कुछ बातों का ध्यान तो रखा ही जा सकता है। प्रथम यह कि लोक-नृत्यों के विशेषज्ञों के लिए जो इसे अपनी आजीविका बनाना चाहते हैं, गहन प्रशिक्षण की सुविधा का प्रबन्ध करना है। द्वितीय, यह कि इसमें रुचि रखने वाले तथा सुसंस्कृत लोगों में इन्हें समझाने, समालोचना करने और महत्त्व समझाने के लिए समय-समय पर साधारण प्रशिक्षण या विशेष समारोहों का प्रबन्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। तृतीय आवश्यकता है प्रदेश की शिक्षा-संस्थाओं में प्रदेश के लोक-नृत्यों और संगीत को पाठ्यक्रम का एक अंग बनाने की ओर कदम उठाना। कहने की आवश्यकता नहीं, कि यह भावात्मक प्रशिक्षण और युवक-युवतियों के शारीरिक और भावात्मक विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चतुर्थ आवश्यकता है हिमाचल प्रदेश के सारे लोक-नृत्यों पर बृहद् प्रामाणिक रंगीन फिल्मों का निर्माण करना जिन्हें देश के सिने घरों, देश-विदेश के उत्सवों और टेलीविजन पर दिखाया जाए। इसके अतिरिक्त इन लोक-नृत्यों पर प्रामाणिक सचित्र परिचयात्मक पुस्तक अन्य भाषाओं में प्रकाशित करने की भी आवश्यकता है। और फिर देश के इन लोक-नृत्यों का राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी उचित प्रोत्साहन देने की व्यवस्था।

किसी राष्ट्र, क्षेत्र एवं जाति का गौरव उसकी कला एवं संस्कृति के विधि-रूपों, संगीत, नृत्य, चित्रकारी, साहित्य तथा अन्य रचनात्मक साधनों द्वारा बढ़ता है। यूनेस्को के भूतपूर्व महानिदेशक रेने मेहयू के शब्दों में **"यदि मानव होने के नाते व्यक्ति की गरिमा का यह परमावश्यक भाग है कि उस समुदाय की सांस्कृतिक विरासत और सांस्कृतिक गतिविधियों में सम्मिलित होने का अधिकार भी है। इसका अभिप्राय यह भी है कि जिन अधिकारियों पर इन समुदायों की जिम्मेवारी है, उनका कर्तव्य है कि जहां तक धन की दृष्टि से संभव हो, वहां तक हर व्यक्ति को सांस्कृतिक क्रिया कलापों में सम्मिलित होने के साधन उपलब्ध करें।"**

इस उद्देश्य से प्रेरित होकर हिमाचल प्रदेश की साहित्य एवं संस्कृति एकादमी को उन क्रिया-कलापों को जो पहले बिखरे हुए थे, एक जगह लाना और समन्वित करना चाहिए जिससे जनता यह समझ सके कि यह ज्ञान कितना मूल्यवान है, जिससे इसकी मौलिकता निरन्तर कायम रखी जा सकती है। हिमाचल प्रदेश की लोक-कला और संस्कृति भी अन्य क्षेत्रों की तरह राष्ट्र की मूल्यवान विरासत है।

निःसन्देह, कला-सृजन की स्वतन्त्रता में सरकार का हस्तक्षेप अनावश्यक और हानिकारक ही रहता है, पर राज्य ऐसी सामाजिक और कानूनी अवस्थाएँ पैदा कर सकता है जिनमें कलाकार अपने आपको पूरी तरह प्रस्तुत कर सके और अपने व्यक्तित्व की समस्त जटिल रूप अभिव्यक्त कर सके, क्योंकि सभी

कलाओं के मूल में आत्मनिवेदन है। प्रत्येक जाति का आत्म-प्रकाशन अपनी संस्कृति के अनुसार ही होता है। चूंकि लोक-नृत्य जीवन-गति से सीधे सम्बन्धित हैं इसलिए इनमें किसी आदर्श या परानुभूति को सीधी अभिव्यक्ति मिलने की अपेक्षा जीवन के उल्लास का प्रकटीकरण अधिक होता है; तभी तो वह जीवन-गति के आदर्श प्रतीक माने जाते हैं। इन्हीं लोक-नृत्यों ने लोक-जीवन को आनन्दमय बना, लोक-कला को सुरक्षित रखा है तथा लोक-जीवन की मिठास प्रकाश और उल्लास से भरकर, उसे सच्चे अर्थों में संस्कृति बना दिया है। हिमाचल प्रदेश के इन लोक-नृत्यों का अपना विशेष आकर्षण है। आज भी इनका महत्त्व किसी तरह कम नहीं हुआ, बल्कि इसके प्रति नए आकर्षण की भावना जागृत हुई है।

कला संस्कृति का सार है और संस्कृति भी स्वयमेव क्या है ? इनसे मानव एवं राष्ट्र के विज़न (Vision) का विस्तार होता है। कला और संस्कृति के प्रति मानव एवं राष्ट्र के विज़न का विस्तार होता है। कला और संस्कृति के प्रति अनुराग राष्ट्रोत्थान का एक शुभ चिह्न है।

□ □ □

संदर्भ ग्रन्थ सूची

१. नृत्य भारती (१९६२) संगीत कार्यालय हाथरस आचार्य सुधाकर

२. हिमाचल गौरव (१९७१) सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-७, प्रो० हरिराम जसटा

३. नृत्य सागर (१९४२) संगीत कार्यालय हाथरस, कृष्ण चन्द्र निगम

४. लोक कला परम्परा (नया समाज, अक्टूबर, १९५२), श्री राम इकबाल सिंह

५. जुब्बल के लोकनृत्य (हिमाचल कल्पद्रुम, वर्ष १, अंक ८), श्री गर्वधन सिंह

६. लोकनृत्य एवं लोक वाद्य (सम्मेलन पत्रिका, १९४०), श्रीमती शांति अवस्थी

७. नृत्य कला और शिक्षा केन्द्र, श्री उदय शंकर

८. भारत के लोकनृत्य (१९७४) राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, डा० श्याम परमार

९. किन्नौर का लोक साहित्य (१९७६), ललित कला प्रकाशन विलासपुर, डा० बंशीराम शर्मा

१०. कुलूत देश की कहानी (नील कमल प्रकाशन कुल्लू), श्री लालचन्द प्रार्थी

११. लोक वार्ता की पगडंडिया (भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर), डा० सत्येन्द्र

१२. भारतीय लोक-नृत्य (१९५७) (भारतीय लोक-कला मण्डल, उदयपुर), श्री देवी लाल सामर

१३. Farmer in India (1959) Vol. ICAR, Dr. M. S. Randhawa

१४. Folk Dances of India, (Bhavan's Journal, October, 29. 1961), Mohan Khokar

१५. Faets of Indian Culture (1962), (Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay), B. Srinivasan

१६. Indian Dancing (Bhavan's Journal 'August, 1972), Kanak Rele

१७. Dance in India (1962), Sushil Gupta, Calcutta, Ragini Devi

१८. Modern Dance (1968), (Admn. & Charles, London), Jane Wincals

१९. Indian Dances (1967), Reena Singha & Faber & Faber, London, Reginald Massey

२०. The Dance of Shiva (1956), Asia Publication of Bombay. Anand Coomarsswamy

२१. Musical Instruments of India (1971), Publicaiion Division, Govt. of India, New Delhi, S. Krishana Swamy

२२. Indian Folk Musical Instruments (1968), Sangeet Natak Acadmi, New Delhi, K. S. Kothari

२३. District Gazetteer of Kinnaur (1971)

२४. —do— Lahaul & sspiti

२५. —do— Chamba (1963) H. P. Govt.

२६. —do— Sirmour (1969) Publications.

२७. —do— Bilaspur

२८. Folk Dances of India (1956), Publication Division, Delhi.

२९. Dances of India (1965), Enakshi Bhawani, D. B. Taraporewala and Sons, Bombay.

३०. Classical and Folk Dances of India (1963), Marg Publication, Bombay.

अनुक्रमणिका

पारिभाषिक शब्द सूची

अतीत	ancient, past	कला	art
अभिव्यक्ति	expression	कलात्मक	artistic
अनुभव	experience	कल्याण	welfare
अनन्त	eternity	कृषि	agriculture
अनुसूचित जाति	Sch. caste	क्षेत्र	region, area
अनुसूचित जनजाति	Sch. Tribes	क्षेत्रीय	regional
अनुष्ठान	ritual, cere-mony	गोलाकार	circle
		गौरव	glory
अवकाश	leisure	ग्रामीण	village, rural
अस्तित्व	existence	घटना	episode
अर्द्धवृत्त	semi-circle	घाटी	valley
अर्द्धगोलाकार	semi-circle	चित्रपट	cinema
आकाशवाणी	Radio	चित्रकार	painter
आत्मनियन्त्रण	self control	जन	people, folk
आदिवासी	Tribe, aborginal	जनसंख्या	population
आधार	basis	ताल	rhythm
आधुनिक	modern	तलवार	sword
आनन्द	bliss, enjoyment	तारामण्डल	cosmos
		तीव्रीकरण	intensification
अंगूठी	ring	तुलना	comparison
इन्द्रधनुष	rainbow	त्यौहार	festival
उत्सव	festival	दक्ष	expert
उत्साह	enthusiasm	दूरदर्शन	television
ऐतिहासिक	historical	दर्शक	spectator
औपचारिक	formal, ceremonial	धार्मिक	religious
		नृत्यगीत	dance song

नर्तक	dancer	मनोरंजन	entertainment
परिचय	introduction	माध्यम	medium
परिचयात्मक	introductory	मानस	mi.ıd
परम्परा	tradition	माला नृत्य	circle dance
परम्परागत	traditional	मुखौटा	mask
परिवार	family	मुद्रा	pose, posture
परिस्थिति	situation, condition	मूल्य मूर्ति	value, image. idol
पर्वत	hill, mountain	मूर्तिकार	sculptor
पर्वतीय	hilly, mountaneous	मेला, बिशू	fair
		मैदान	plain
पहाड़ी	hilly	ठठईरया ठोठा नृत्य	bow-arrow-dance
पिपासा	hunger		
पीढ़ी	generation	युग	age
पृष्ठभूमि	background	युद्ध	battle
पुरुष नृत्य	male-dance	राजनीतिक	Political
प्रकटीकरण	expression	रिवाज	custom
प्रकृति	nature	रूप	form
प्रतिक्रिया	reaction	ललित कला	fine art
प्रतिष्ठा	prestige,	लोक कला	folk art
	dignity	लोक गीत	folk dance
प्रतीक	symbol	लोक जीवन	folk life
प्रदर्शन	demonstration	लोकधुन	folk tune
	exhibition	लोकनृत्य	folk dance
प्रेरणा	inspiration	लोक नर्तक	folk dancer
प्रवृत्ति	trend	लोकप्रिय	popular
प्रेत नृत्य	Devil dance	लोकवादक	musician
प्रस्तुतीकरण	presentation	लोकवाद्य	folk instrument
प्राकृतिक	natural		
प्रोत्साहन	encouragement	लोक-संस्कृति	folk culture
भारतीय नृत्य	Indian dance	वर्गीकरण	classification
भावनात्मक	emotional	वातावरण	atmosphere
भौगोलिक	geographical	विकसित	developed
मकर नृत्म	dragon dance	विवरण	particulars

विविधता	variety	सौन्दर्य बोध	aesthetic
विशेषता	speciality	सम्पर्क	contact
विश्लेषण	analysis	संरक्षण	preservation
वेषभूषा	dress	सम्वाद	dialogue
व्यक्तिक नृत्य	individual dance	संस्कार	ceremony, rites
व्यवसाय	occupation	सृष्टि	universe
शास्त्रीय	classical	स्थानीय	local
शिष्टकला	classical art	स्थिति	position, situation
सचित्र	illustrated	स्वतन्त्र	independent
समुदाय	community	सवांग	mimicry
सभ्यता	civilization	स्वाभाविक	natural
साधन	means	स्वीकृति	recognition
सामाजिक	social	हरण नृत्य	deer dance
सामूहिक नृत्य	group dance		